राजा-रानी

[नाटक]

मूल-लेखक

श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर

अनुवादक

पं० रूपनारायण पाण्डेय

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९२५

[मूल्य ॥)

राजा-रानी

पहला अङ्क

पहला दृश्य

जालन्धर—महल का एक स्थान

विक्रमदेव और देवदत्त

देव०—महाराज, क्यों अनुचर पर यह कोप है?

विक्र०—कहिए, क्यों, क्या हुआ!

देव०— पुरोहित-पद मुझे
आप दे रहे; हुआ दोष क्या हे प्रभो?
त्रिष्टुप और अनुष्टुप को भी आपने
मेरे मुख से सुना न होगा। आपकी
सङ्गति में सब याग-यज्ञ भूला हुआ!
मुझे पुरोहित कौन कहेगा कर्म से?
बहा दिया, श्रुतियों स्मृतियों को, मोह से
विस्मृति-सागर में; विचार कुछ भी नहीं।
कन्धे पर यज्ञोपवीत केवल पड़ा,
ब्रह्मतेज की निर्विष जैसे केंचली।

अपनी विद्या नई कहो तुम।

देव० — तो सुनो —

"वचनों में मधु, हृदय, हलाहल से भरा

अधरों में है अमृत, अग्नि भीतर जले।"

विक्र०—वही पुरानी बात!

देव० — पुरानी है सही;

किन्तु करूँ क्या, पुस्तक जितनी खोलिए

वही एक ही बात! जो कि प्राचीन थे—

रहते छिन भर न वे प्रिया सम्बन्ध मे

निश्चिव हो निश्चिन्त! किन्तु मैं सोचता,

घर घर जिसकी फिरे ब्राह्मणी पेट को

वह कैसे स्वच्छन्द छन्द जोड़ा करे—

लिखे काव्य के ग्रन्थ?

विक्र०— वृथा सन्देह है!

यह केवल है आत्मवञ्चना, की गई

अपनी इच्छा से। विचार कर देख लो—

क्षुद्र हृदय का प्रेम, बहुत विश्वास से

होता मृत-जड़-सदृश, इसी कारण उसे,

अविश्वास कर वृथा, सजग करना पड़े।

—देखो, मन्त्री वृद्ध इधर ही आ रहा!

लादे भारी बोझ राज्य के कार्य का!

भागूँ लेकर जान!

देव० — ज़नाने में घुसो!
रानीजी के आँचल में बस छिप रहो!
राजकाज सब असम्पूर्ण ही द्वार पर
पड़ा रहे! हो जमा, अन्त को एक दिन
बढ़ता बढ़ता पहुँच जायगा वह वहाँ,
जहाँ किया करते विचार भगवान हैं।

विक्र०—यह क्या है उपदेश ?

देव० — लेशभर भी नहीं!
हैं प्रलाप के वचन! जाइए, क्यों वृथा
नष्ट करेंगे समय?

(राजा का प्रस्थान)

(मन्त्री का प्रवेश)

म० — गये स्वामी कहाँ?

देव० —अन्तःपुर की ओर चोर से चल दिये।

म० —(बैठकर)
हाय देव, यह दशा राज्य की क्या हुई?
राजा का ही पता नहीं, तब राज्य क्या;
कहाँ दण्ड फिर और राजगद्दी कहाँ!
इस मसान से बहुविषाद-पूरित बड़े
राज्यखण्ड की छाती पर सिर को उठा,
पत्थर का यह रुद्ध अन्ध—अति गर्व से—

अन्तःपुर है खड़ा! राज्यलक्ष्मी अहो
दरवाज़े पर बैठ अनाथा-वेष में
करके हाहाकार रो रही।

देव० — देखकर
आती मुझको हँसी। इधर भागे फिरें
राजा, पीछे राज्य लगा है, वाहवा!
यह तो अच्छा हुआ तमाशा, खेलते
"लुकीलुकैया" राज्य और राजा मनो;
क्यों मन्त्री जी?

म० — क्या हँसने की बात है!

देव० —हँसूँ न तो क्या! वन में रोना है वृथा,
लड़कों का है काम; सहा जाता नहीं
सभी समय का रोना, होना दुःख का।
बीच बीच में इससे रोने की जगह,
जमे हुए आँसुओं सदृश सूखी कठिन
हँसता हूँ मैं हँसी।—हुआ क्या, सो कहो।

म० —तुम तो जानो सभी, यहाँ का हाल जो।
रानी का सब खानदान कश्मीर से
आकर है बस गया। विदेशी वे सभी
करते हैं उत्पात, जमा कर दबदबा।
विष्णुचक्र से छिन्न सती के देह सा,
टुकड़े टुकड़े कर प्रताप सब भूप का,

छीन लिया है। प्रजा रो रही दुःख से,
सहती अत्याचार विदेशी का किया।
राजसभा में, जहाँ अराजक हो रहा,
आर्त्तनाद वह हो जाता है लीन सा।
हँसें विदेशी सचिव सभी बैठे हुए।
सिंहासन है शून्य, उसी के पास मैं
बैठा रहता नित्य, नज़र नीची किये.
फटती छाती देख देख।

देव० — आँधी चले,
उलटे-डूबे नाव देखते देखते,
यात्री रोवें। कर्णधार ऊँचे खड़ा
कहे अकेला—जिसके खाली हाथ हैं—
"कहाँ गया पतवार!" ढूँढ़ना है वृथा।
नारी अपने हाथ लिये पतवार है।
क्रीड़ा की है नदी, नाव है प्रेम की,
(वय-वसन्त का वायु हुआ अनुकूल है,)
अपने हाथों रमणी उसको खे रही।
डूबे मन्त्री राज्य भार खाके हुए,
चिन्तासागर जो अपार, उसमें पड़ा।

म० —हँसो नहीं हे विप्र! समय में शोक के
हँसना होता बुरा।

देव० — सुनो—मन्त्री सुनो—

राजा को दो छोड़, जोड़कर कर चलो
रानीजी की चरण-शरण मे।

म० —　　　　　　　　　　　यह नहीं
होगा मुझसे। अपनों के अपराध का
नारी करें विचार; न हो सकता कभी।

देव० —केवल जानो शास्त्र, आदमी की नहीं
तुमको है पहचान। सुनो, निज हाथ से
दे सकती हैं दण्ड नारियाँ स्वजन को;
किन्तु नहीं सह सकें किये सुविचार को
औरों के।

म० —　　　　　　यह सुनो, शोर-ग़ुल हो रहा।

देव० —यह क्या है विद्रोह प्रजा का?

म० —　　　　　　　　　　　विप्रजी,
चल कर देखें हुई कौन घटना नई।

दूसरा दृश्य

सड़क—लोगों की भीड़

कन्हई नाई—अरे भाई! यह रोने का दिन नहीं है! बहुत रो चुके। फल क्या हुआ?

मनसुख किसान—ठीक कहते हो भैया, साहस से सब काम होते हैं। कहावत है—जिसकी लाठी उसकी भैंस।

कुञ्जलाल बढ़ई—भीख माँगने से कुछ न होगा। हम लूट करेंगे।

कन्हई नाई—भिच्छुकं नैवचं नैवचं। क्यों महाराजजी, आप तो बड़े भारी पण्डित के पोते हैं! लूट-पाट में क्या कुछ दोष है?

पण्डित नन्दलाल—कुछ नहीं, 'बुभुक्षितः किन्न करोति पावकम्'—भूखा आदमी कौन पाप नहीं करता? अग्नि को पावक कहते हैं—आग में सब जल जाता है—पाप भी जल जाते हैं। पेट की आग से बढ़कर दूसरी अग्नि नहीं है।

कुछ लोग—आग! ठीक कहते हो। जीते रहो महा-राज! अच्छा, हम यही करेंगे। हम आग ही लगा देंगे। आग में तो पाप हो नहीं है; ऐसा कर देंगे कि बड़े बड़े पापियों और अत्याचार करनेवालों के घरों में उनका चिह्न न रह जायगा!

कुञ्जलाल—मेरे तीन बसूले हैं।

मनसुख—मेरे एक हल है। उसी से ढेले की तरह बड़े-बड़े सिर फोड़ूँगा।

रामदीन तेली—मेरे एक बड़ा भारी कोल्हू है। भागते समय उसे घर में ही छोड़ आया हूँ।

हरदीन कुम्हार—तुम लोग क्या प्राण देने के लिए तैयार हो रहे हो? बक क्या रहे हो? पहले राजा को जनाओ, फिर अगर वह न सुने तो और कुछ निश्चय किया जायगा।

कन्हई—मैं भी तो वही कह रहा हूँ।

कुञ्जलाल—मैं भी तो वही ठीक कर रहा हूँ।

रामदीन—मैं बराबर कहता आ रहा हूँ, इस कायथ के बेटे को बोलने दो। अच्छा, भैया! तुम राजा से नहीं डरते?

मन्नू कायस्थ—मैं किसी से नहीं डरता। तुम लोग तो लूट तक करने को तैयार थे, और मैं क्या कड़ी बातें भी मुँह से नहीं कह सकता?

मनसुख—दङ्गा करना और बात है और मुँह से कहना और बात है। मैं तो बराबर यही देखता आ रहा हूँ कि हाथ चलता है, मुँह नहीं चलता।

कन्हई—मुँह का कोई काम नहीं होता। अन्न भी नहीं जुरता और बात भी नहीं निकलने पाती। मुँह किसी तरह नहीं चलता!

कुञ्जलाल—अच्छा, तुम क्या कहोगे?

मन्नू—मैं डरकर नहीं कहूँगा। मैं पहले ही शास्त्र के वचन सुनाऊँगा।

रामदीन—क्या? शास्त्र तुम जानते हो? मैं तो पहले से ही पुकार रहा था कि कायथ के बेटे को बोलने दो—उसका ख़ूब जाना-सुना है।

मन्नू—मैं पहले ही कहूँगा—

अतिदर्पे हता लङ्का अतिमाने च कौरवाः।
अतिदाने बलिर्बद्धः सर्वमत्यन्तगर्हितम्॥

हरदीन—हाँ, यह शास्त्र है।

कन्हई—(नन्दलाल से) क्यों महराजजी, तुम तो पण्डित के पोते हो, बताओ, यह शास्त्र है कि नहीं? तुम तो यह सब समझते हो।

नन्दलाल—हाँ—वही—उसे क्या कहते हैं—समझता क्यों नहीं हूँ? मगर जो वह न समझे तो तुम किस तरह समझा दोगे?

मन्नू—समझाना क्या कठिन है? अर्थात्—बहुत बढ़ा-बढ़ी ठीक नहीं।

जवाहिर जुलाहा—इतने बड़े कलाम के इतने से ही माने हुए?

रामदीन—यह बात न हो तो शास्त्र काहे का?

नन्दलाल—देहाती लोग दो बातों में जिस काम को कर डालते हैं उसी में शहर के लोग सौ बातें खर्च कर डालते हैं।

मनसुख—जो हो, बात अच्छी है। बहुत बढ़ाबढ़ी ठीक नहीं। इसे सुनकर राजा की आखें खुल जायँगी।

जवाहिर—मगर इसी एक से काम न निकलेगा। और भी सास्तर चाहिए।

मन्नू—एक ही नहीं, और भी कह सकता हूँ। कहूँगा—

लालने बहवो दोषास्ताडने बहवो गुणाः।

तस्मात् मित्रञ्च पुत्रञ्च ताड़येत् न तु लालयेत्॥

हम लोग भी राजा के पुत्र ही हैं! मैं कहूँगा, महाराज, हमको आप ताड़ना न दें। यह अच्छा नहीं है।

हरदीन—यह अच्छी बात है—बड़ी भारी बात है—यही जो तुमने कहा सो सुनने में बहुत अच्छा जान पड़ता है।

रामदीन—मगर ख़ाली शास्त्र कहने से तो काम नहीं चलेगा—मेरे कोल्हू की बात कब आवेगी? उसे इसी के साथ जोड़ न दो।

नन्द०—अबे! तू कोल्हू के साथ शास्त्र जोड़ेगा? शास्त्र को भी क्या तू ने अपना बैल बना लिया?

जवाहिर—तेली का बेटा है, उसके और कितनी अक़्ल हो सकती है?

कुञ्ज०—दो हाथ पीठ पर पड़े बिना इसके होश ठिकाने नहीं हो सकते। लेकिन यह तो बताइए, मेरी बात कब उठाइएगा? याद तो रहेगी? मेरा नाम है कुञ्जलाल, काञ्जीलाल नहीं। काञ्जीलाल मेरा भतीजा है। वह बुधकोट में रहता है। वह जब तीन बरस का था तब उसको--

हरदीन—यह तो सब समझ में आ गया, लेकिन समय ऐसा आ लगा है कि राजा अगर न सुने!

कुञ्ज०—तो हम लोग भी शास्त्र छोड़कर शस्त्र लेंगे।

मनसुख—किसने यह बात कही जी?

कुञ्ज०—(गर्व के साथ) मैंने कही है जी। मेरा नाम कुञ्जलाल है, काञ्जीलाल मेरा भतीजा है।

कन्हई—भैया! तुमने ठीक ही कहा—शास्त्र और शस्त्र—कभी शास्त्र, कभी शस्त्र—और फिर कभी शस्त्र, कभी शास्त्र।

जवाहिर—लेकिन यह तो बड़ा ही गोलमाल हो रहा है। क्या ठीक हुआ, सो कुछ समझ में न आया। शास्तर या शस्तर?

रामदीन—जुलाहा है न, यह भी नहीं समझ सका? इतनी देर तक हम लोगों ने सिर खपाया और तुम कुछ भी नहीं समझे? सुनो—ठीक यह हुआ कि शास्त्र की महिमा समझने में बहुत देर लगती है, मगर शस्त्र की महिमा बस चटपट समझ में आ जाती है।

बहुत लोग—(ऊँचे स्वर से) तो शास्त्र चूल्हे में जाय, शस्त्र उठाओ।

(देवदत्त का प्रवेश)

देव०—बहुत घबराने की आवश्यकता नहीं है। बहुत जल्द चूल्हे में जायगा, इसकी तैयारी हो रही है। क्यों रे, तुम सब क्या कह रहे थे?

रामदीन—महराज, हम इस भले आदमी के लड़के के मुँह से शास्त्र सुन रहे थे।

देव०—इसी तरह मन लगाकर तो शास्त्र सुना ही जाता है! तुम्हारे चिल्लाने की चोट से राजा के कान चिथड़े हो गये! जैसे धोबियों के महल्ले में आग लगी है!

कन्हई—तुमको क्या महराज? तुम तो राजा के घर का सीधा खा-खाकर फूलते जा रहे हो—हम लोगों की आँतें पेट की आग से सुलगा करती हैं—हम क्या योंही चिल्ला रहे हैं?

मनसुख—आजकल धीरे कहने से कौन सुनता है? इस ज़माने मे चिल्लाकर ही बात कहनी पड़ती है।

कुञ्ज०—रोना-धोना बहुत हो चुका। अब हम लोग और उपाय देखेंगे।

देव०—क्या कहता है रे! तुम लोग बहुत बढ़-बढ़कर बातें करने लगे हो। सुनेगा? कहूँ?

नसमानममानसमानसमागममाव समीक्ष्य वसन्तनभ-
भ्रमदभ्रमदभ्रमदभ्रमदभ्रमरच्छलतः खलु कामिजनः।

हरदीन—अरे बाप रे, शाप दे रहे हैं क्या?

देव०—(मन्नू से) तुम तो भले आदमी के लड़के हो, तुम तो शास्त्र समझते हो—क्यों, यह ठीक है कि नहीं? "नस मानस मानम मानसं"

मन्नू—वाह, बिलकुल ठीक है। शास्त्र अगर चाहो तो यही है। मैं भी तो ठीक यही बात कह रहा था।

देव०—(नन्दलाल से) नमस्कार! आप तो ब्राह्मण जान पड़ते हैं। क्या कहते हैं आप, अन्त को ये सब मूर्ख "भ्रमद-भ्रमदभ्रमत्" होकर मरेंगे न?

नन्द०—मैं बराबर यही कहता आ रहा हूँ, लेकिन समझे कौन? छोटी जाति के आदमी हैं न!

देव०—(मनसुख से) इन लोगों में केवल तुम्हीं बुद्धिमान् ऐसे देख पड़ते हो। अच्छा तुम्हीं कहो, ये क्या अच्छी बातें

हो रही थीं? (कुञ्जलाल से) और तुम भी तो बहुत ही भले आदमी जान पड़ते हो। तुम्हारा नाम क्या है?

कुञ्ज०—मेरा नाम कुञ्जलाल है, काञ्जीलाल मेरे भतीजे का नाम है।

देव०—ओ!—तुम्हारे ही भतीजे का नाम काञ्जीलाल है? मैं राजा से विशेष करके तुम्हारा उल्लेख करूँगा।

हरदीन—और हम लोगों का क्या होगा?

देव०—सो कुछ भैया मैं कह नहीं सकता। इस समय तो तुमने रोना आरम्भ किया है—मगर अभी कुछ देर हुई, जब तुमने और ही सुर छेड़ा था। उन बातों को क्या राजा ने सुना नहीं? राजा सब सुन पाते हैं।

बहुत लोग—दोहाई है महराज! हमने कुछ नहीं कहा। इस काञ्जूलाल या माञ्जूलाल ने ही शस्त्र का नाम लिया था।

कुञ्ज०—चुप रहो। मेरा नाम न ख़राब करो। मेरा नाम है कुञ्जलाल, मैं झूठ नहीं बोलूँगा—मैं कह रहा था कि जैसे शास्त्र है वैसे शस्त्र भी है। राजा अगर शास्त्र का कहना न माने तो शस्त्र है। क्यों महराज, यही कहा था न?

देव०—ठीक कहते हो। तुमने अपने योग्य ही बात कही। अच्छा सोचो। तुम्हारा बल क्या है? "दुर्बलस्य बलं राजा"—क्यों न? राजा ही दुर्बल का बल है। फिर "बालानां रोदनं बलम्"; राजा के आगे तुम लोग बालक ही हो। अतएव यहाँ रोना ही तुम्हारा शस्त्र है। बस, अगर शास्त्र से

काम न निकले तो तुम अपने शस्त्र रोने का प्रयोग करो। तुमने बड़े भारी बुद्धिमान् जैसी ही बात कही है—पहले मैं ही कुछ चौंधिया गया था। तुम्हारा नाम मैं याद रक्खूँगा। क्यों जी, तुम्हारा नाम क्या है?

कुञ्ज०—मेरा नाम कुञ्जलाल है। काशीलाल मेरा भतीजा है।

और सब—महराज, क्षमा करो—हम लोगों को क्षमा करो।

देव०—मैं माफ़ करनेवाला कौन? हाँ, रो-धोकर देखो, शायद राजा क्षमा कर दे।

(प्रस्थान)

तीसरा दृश्य

अन्तःपुर—प्रमोदवन

विक्रमदेव और सुमित्रा

विक्र०—मौन मुग्ध सन्ध्या वह देखो आ रही
धीरे धीरे कुञ्जभवन में, प्रियतमे,
लज्जा से हो नम्र नववधू जिस तरह।
सन्नाटे की रात सामने है खड़ी,
अन्तहीन घन अन्धकार फैला रही;
इतनी सी इस सान्ध्य-दीप्ति को भी मनो
ग्रसना चाहे। उसी तरह मैं भी यहाँ

इन ओठों की हँसी, रूप-रमणीयता
और कान्ति कमनीय पान करना चहूँ—
हृदय पसारे खड़ा। दिवस-आलोक के
तट से आओ निकट, उतर आओ प्रिये!
यह अथाह है हृदय, जिस तरह रात का
सागर हो। तुम चरण-कमल रखकर यहाँ
आओ, बैठो।—कहाँ रहीं अब तक प्रिये?

सुमि०—रखिए यह विश्वास सदा हूँ आपकी।
घर में रहते कामकाज, उनमें लगी
रहती हूँ मैं। घर भी तो है आपका,
और काम भी नाथ।

विक्र०— प्रिये, सब छोड़ दो।
घर या घर का काम नहीं कुछ काम का।
तुम बाहर की नहीं, हृदय की वस्तु हो
भीतर है घर, और तुम्हारा घर नहीं।
बाहर के सब काम पड़े बाहर रहें—
भाड़ में।

सुमि०— क्या मन में ही हूँ आपके?
नहीं नाथ, यह नहीं, झूठ यह बात है।
बाहर से भी हूँ सदैव मैं आपकी।
भीतर हूँ प्रेयसी, और बाहर वही रानी।

विक्र०—हा, प्रियतमे, आज क्यों स्वप्न सा

जान पड़े वह सुख का दिन? आनन्दमय
प्रथम मिलन वह; प्रथम प्रेम की वह छटा;—
हृदय और सारे शरीर में वह प्रिये,
नवयौवन-विस्तार देखते देखते;—
रात्रिमिलन में हृदय धड़कना, काँपना:—
फूलों पर हों बूँद जिस तरह ओस की
वैसे लज्जा नयन-पल्लवों पर बसी;
अधरों पर थी हँसी प्रकट होती कभी
कभी लीन हो जाती जैसे चञ्चला,—
या सन्ध्या को पवन-झकोरों के लगे
कातर कम्पित दीपशिखा हो जिस तरह,
होना आँखें चार, न मुख से एक भी
बात निकलना, देख तमाशा चन्द्र का
हँसना, बीती रात जान कर आँख में
आँसू आना, और विरह-भय से मुझे
लिपटाना, वह तनिक बिछुड़ने से सदा
घबराना!—घर और काम घर का सभी
तब था प्यारी कहाँ? ज़रा सोचो सही।

सुमि०—तब थे बालक और बालिका हम। हुए
राजा-रानी आज। न वे बातें हमें,
नाथ, सोहतीं।

विक्र०— राजा-रानी! कौन है

राजा? रानी कौन? न मैं राजा कभी।
सिंहासन है शून्य रो रहा। चूर्ण हो
राज-काज इन चरणों के नीचे पड़ा
मिट्टी में मिल रहा।

सुमि०— नाथ, सुन सुन मरूँ
लज्जा से! छि:, महाराज, यह प्रेम है?
यह तो, बादल के समान हो, आपके,
ढके हुए है, उज्ज्वल तेज-प्रताप को!
सुनिए प्रियतम, मेरे सब कुछ आप हैं,
महाराज हैं आप, आप स्वामी—मुझे
अनुगत छाया के समान, बस, जानिए,
अधिक न इससे। मुझे न लज्जित कीजिए।
राजश्री से अधिक मुझे मत चाहिए!

विक्र०—तुम्हें न मेरा प्रेम चाहिए?

सुमि०— चाहिए,
थोड़ा सा, सब नहीं। हृदय के बीच में
देना मुझको स्थान, हृदय ही सब नहीं
दे डालो।

विक्र०— स्त्रीजाति पहेली ही रही!
जान न अब तक सका स्त्री-हृदय-वृत्ति को।

सुमि०—तुम हो प्यारे, पुरुष; तुम्हारी जाति है
सुदृढ वृक्ष के सदृश; तुम्हें तो चाहिए

अटल रहो, होकर स्वतन्त्र, उन्नत सदा,
अपने पैरों आप खड़े होकर—तभी
हम अबलायें लता लिपट तुमसे रहें,
आश्रय पावे। किन्तु तुम्हीं सब लोग जो
अपना सारा हृदय हमें अर्पण करो
तो फिर स्त्री का प्रेम किधर को जायगा?
ग्रहण करेगा कौन उसे? संसार के
काम करेगा कौन? स्नेहमय कुछ रहो,
उदासीन कुछ रहो—मुक्त भी, लिप्त भी।
बहुत पक्षियों का निवासगृह, पथिक का
विश्रामस्थल, तप्त भूमि की शान्ति की
छाया, बान्धव मेघ-वृन्द के, हे प्रभो,
आँधी के पूरे पटैत, आश्रय सदा
ललित लता के, पुरुष पेड के तुल्य हैं!

विक्र०—बातें कर दो बन्द, प्रिये, देखो, हुई
सन्ध्या—पक्षी मौन प्रेम-सुख पा रहे—
पड़े हुए चुपचाप घोंसलों मे! करें
बक-बक करके शान्तिभङ्ग फिर क्यों हमी?

(कञ्चुकी का प्रवेश)

कंचु०—मन्त्रीजी हैं खड़े दर्शनों के लिए,
स्वामी, कोई बहुत ज़रूरी काम है।

विक्र०—धिक् मन्त्री को! तुझे! और उस काम को!
मन्त्री को ले राज्य जाय पाताल को!

(कञ्चुकी का प्रस्थान)

सुमि०—जाओ, जाओ नाथ!

विक्र०— एक ही बात है!
जाओ जाओ, काम काम, निष्ठुर महा!
जा सकता क्या नहीं? ठहरना चाहता
कौन? कौन हो नम्र हाथ जोड़े हुए
माँगे तौली-नपी कृपा के कण? चला,
जाता हूँ। प्रियतमे, हृदयलग्ना लता
तुम हो; मुझको क्षमा करो, अपराध को
क्षमा करो; अब पोंछ आँसुओं को हँसो—
जी चाहे तो; अथवा भौंहें तान लो—
तिरस्कार कर दण्ड मुझे दो!

सुमि०— प्रिय, प्रभो,
समय नहीं यह ऐसी बातों का। अभी
जाओ, देखो राजकाज कर्तव्य को।
बस प्रसन्नता इसमें मुझको है बड़ी।

विक्र०—नारी! कैसा कठिन हृदय तूने किया!
प्रिये, न कोई काम ज़रूरी राज्य का;
व्यर्थ उपद्रव! हरे भरे सब खेत हैं—
सब सुकाल से सुखी मज़े में है प्रजा।

राजकाज चल रहा, विघ्नबाधा नहीं।
तनिक तनिक सी बात पूछने के लिए
आना मेरे पास वृथा है वृद्ध का।
मन्त्री है अति चतुर; दिखाता वह यही—
कैसा हूँ मैं सावधान निजकृत्य में!

सुमि०—कभी नहीं, वह सुनो, द्वार पर दुःख से
प्रजा पुकारे; आर्त्तनाद सुनकर फटे
छाती।—पुत्रो! तुम्हें बचाने के लिए
मैं हूँ—मैं हूँ—रानी मार राज्य की—
तुम सबकी मा! मातृहीन कोई नहीं!

(प्रस्थान)

चौथा दृश्य

अन्तःपुर का कमरा

सुमित्रा

सुमि०—आया अब तक न क्यों, कहाँ ब्राह्मण रहा?
बढ़ता जाता आर्त्तप्रजा का शोर है।

(देवदत्त का प्रवेश)

देव०—जय हो!

सुमि०— ब्राह्मणदेव, सुनाई पड़ रहा
कोलाहल यह कहाँ, किस तरह का, कहो।

देव०—क्यों माता तुम सुनो! सुनो, जो तुम सुनो

तो कोलाहल सभी ओर है! इसलिए
अन्तःपुर में रहो कान मूँदे हुए
सुख से। क्या यह शोर वहाँ पर भी गया?
शान्ति वहाँ भी नहीं? कहो तो मैं, अभी,
फटे-पुराने मलिन वस्त्र धारण किये—
भूख-प्यास से हाय हाय करते हुए—
कोलाहल की सेना लेकर दूँ भगा'

सुमि०—जल्द कहो, क्या हुआ?

देव०— अजी, कुछ भी नहीं।
है दरिद्र की भूख, दीन की भूख है।
सब असभ्य नासमझ निकम्मे नीच ये
चीख़ चीख़कर मरते मारे भूख के!
राजकुञ्ज के बीच पपीहा कोकिला
चुप हैं भय से।

सुमि०— आहा, भूखा कौन है?

देव०—दुर्भाग्यों का भाग्य। दीन सारी प्रजा,
खाकर आधे पेट रही जो आज तक,
अनाहार अभ्यस्त न उसको हो सकी
अब तक, है आश्चर्य!

सुमि०— देव, क्या बात है?
धरती में उत्पन्न अन्न इतना हुआ,
तो भी रोती प्रजा पेट भर अन्न को?

देव० —जिसकी धरती, अन्न उसी का जानिए ।
धरती पर अधिकार ग़रीबों का नहीं ।
यज्ञभूमि के कुत्ते से ये लोग हैं,
जीभ चलाते एक किनारे पर पड़े,
पाते जूठन कभी, मार खाते कभी ।
औरों की ही दया अगर हो तो जियें,
और नहीं तो, एक किनारे राह के
कुचले जाते, पड़े पड़े रोवें, सहें ।
सुमि०—क्या कहते हो, यह कैसा अन्धेर है ?
राजा निर्दय बना? अराजक देश है?
देव० —कौन अराजक कहे! हज़ारों जब यहाँ
राजा से भी बढ़कर मन-मानी करें!
सुमि०—तो अमात्य की दृष्टि नहीं है राज्य के
कामों पर क्या?
देव० — दृष्टि नहीं? यह बात क्या!
पूर्ण दृष्टि है! सूर्य छिपे, घर पर पड़े
दृष्टि चोर की यथा। दृष्टि शनि की वही!
उनका ही क्या दोष? विदेशी वे सभी,
आये ख़ाली हाथ वहाँ से क्या यहाँ
देने आशिर्वाद प्रजा को—कर दया?
सुमि०—कौन? विदेशी? मेरे ही हैं जो सगे?
देव० —हाँ, रानी के सगे, प्रजा के भी सगे

मामा, जैसे कालनेमि या कंस था!

सुमि०—विजयसेन?

देव०— वे शासन करने में लगे।

उनका शासन कड़ा सिंहगढ़ देश में—

सुखी प्रजा सब, अन्न-वस्त्र का छूट गया

झञ्झट, बाक़ी रहे हाड या खाल है!

सुमि०—शिलादित्य?

देव०— वे देख रहे वाणिज्य को

हथियाये व्यापार सभी इस देश के।

सुमि०—और युधाजित?

देव०— उनका क्या कहना, बड़े

अच्छे, मीठे वचन सभी से बोलते।

विजयकोट में रहें, कहें सबको सदा

भैया-दादा, और नज़र नीची किये

देखें चारों ओर। भूमि की पीठ पर

फेरें अपना हाथ प्यार से। जो मिले

उसको लेते उठा।

सुमि०— अहो, धिक्कार है!

कैसी लज्जा! घोर पाप! मेरे सगे!

कुलकलङ्क! यह अयश पिता के वंश का

अभी करूँगी दूर; देर होगी नहीं।

(प्रस्थान)

पाँचवाँ दृश्य

देवदत्त का घर

नारायणी घर के कामों में लगी है

देवदत्त का प्रवेश

देव०—प्रिये, मैं पूछता हूँ, घर में कुछ है ?

नारा०—सिवा मेरे और कुछ भी नहीं। मैं भी अगर न रहूँ तो बस आफ़त दूर हो जाय!

देव०—यह कैसी बात ?

नारा०—तुम रास्ते से बटोर-बटोरकर सारे संसार के फ़क़ीर ले आते हो, घर में चूनी-भूसी भी नहीं बचने पाती। काम करते-करते मेरा शरीर भी मिट्टी में मिला जाता है।

देव०—मैं क्या योंही अतिथि-अभ्यागतों को ले आता हूँ ? बात यह है कि हाथ में काम बना रहने से तुम अच्छी तरह रहती हो, और इसी कारण मैं भी अच्छी तरह रहता हूँ। और कुछ चाहे न हो, तुम्हारा यह मुँह उससे बन्द रहता है।

नारा०—हूँ! अच्छा-लो मैं चुप हुई जाती हूँ। कौन जानता था, मेरी बात भी तुमसे न सुनी जायगी ? सो कौन कहता है कि तुम मेरी बात सुनो—

देव०—तुम ही कहती हो, और कौन कहेगा ? एक बात नहीं सुनता तो दस बातें सुना देती हो।

नारा०—ठीक है ! मैं दस बातें सुना देती हूँ। अच्छा, मैं चुप हूँ। मैं एक-दम चुप हो जाऊँ तो तुम्हारी जान बचे। अब क्या वे दिन हैं—वे दिन गये। अब फिर से नये मुँह से नई बातें सुनने को जी चाहता होगा! अब मेरी बातें पुरानी हो गई!

देव०—बाप रे! नये मुँह की नई बातें! सुनते ही रोयें खड़े हो आयें! पुरानी बातें सुनने का तो भला अभ्यास भी हो गया है।

नारा०—अच्छा, अच्छी बात है! अगर तुमको मेरी बातें ऐसी बुरी लगती हैं तो मैं चुप हुई जाती हूँ। अब मैं एक बात भी नहीं कहूँगी। पहले ही से कह देते—मुझे तो यह मालूम न था। मालूम होता तो कौन हरामजादी तुमसे—

देव०—पहले नहीं कहा? कितनी ही बार तुमसे कह चुका हूँ। कहाँ, फल तो कुछ भी नहीं हुआ।

नारा०—ठीक है! सो अच्छी बात है, आज से मैं चुप हो गई। तुम भी सुख से रहोगे, मैं भी सुख से रहूँगी। मैं क्या योंही बकती हूँ? तुम्हारे ढंग देखकर—

देव०—यही शायद तुम्हारा चुप रहना है!

नारा०—अच्छा (मुँह फेरकर खड़ी होती है)

देव०—प्रिये! प्रेयसी! मधुरभाषिणी! कोकिलगञ्जिनी!

नारा०—चुप रहो।

देव०—क्रोध न करो प्रिये—कोयल का ऐसा रङ्ग नहीं, कोयल का ऐसा पञ्चम स्वर कहता हूँ।

नारा०—जाओ जाओ, बनो नहीं! परन्तु मैं यह अभी से कहे देती हूँ कि तुम जो और भी फ़क़ीर बटोर लाओगे तो मैं या तो झाड़ू मारकर उनको विदा कर दूँगी या आप ही जङ्गल को चल दूँगी।

देव०—तो फिर मैं भी तुम्हारे ही पीछे-पीछे जाऊँगा—और अतिथि-अभ्यागत भी जायँगे।

नारा०—झूठ नहीं। ढेंकी को स्वर्ग मे भी चैन नहीं मिलता।

(नारायणी का प्रस्थान)

(माला जपते हुए त्रिवेदी का प्रवेश)

त्रिवेदी—शिव शिव शिव! तुम राजपुरोहित हुए हो?

देव०—हाँ हुआ तो हूँ! किन्तु यह क्रोध किसलिए है त्रिवेदीजी? मुझमें कोई दोष न था। मैं माला भी नहीं जपता और भगवान् का नाम भी नहीं लेता। राजा की इच्छा!

त्रिवे०—पिपीलिका के पक्षच्छेद हुआ। श्रीहरि!

देव०—मुझ पर क्रोध करके आप शब्दशास्त्र पर क्यों यह उपद्रव कर रहे हैं? पक्षच्छेद नहीं, पक्षोद्भेद।

त्रिवे०—वह भी यही बात है। जो छेद है वही भेद है! लोग कहते ही हैं—छेदभेद—छिन्नभिन्न! हे गोविन्द! तुम सठिया गये; इसमें सन्देह नहीं।—

देव०—मेरी आशंका सच्ची है, अभी मेरी जवानी बनी हुई है!

त्रिवे०—मैं भी तो वही कहता हूँ। जवानी के दर्प से ही तुम इतने बुड्ढे हो गये हो। सो तुम मरोगे! हे दीनबन्धो!

देव०—ब्राह्मण का कहना झूठ न होगा—मैं मरूँगा। परन्तु उसके लिए आपको विशेष चेष्टा न करनी होगी, स्वयं यमराज इस काम को करेंगे। त्रिवेदीजी, तुम्हारी अपेक्षा मेरे साथ उनकी अधिक जान-पहचान या नातेदारी भी नहीं है। सब पर उनकी समान दृष्टि है।

त्रिवे०—तुम्हारा अन्तकाल बहुत निकट आ गया है। दयामय!

देव०—मैं कैसे जानूँ? आजकल लोग मरते बहुत देखे पड़ते हैं सही—कोई गले में फन्दा लगाकर मरता है, कोई नदी में डूबकर मरता है, कोई साँप के काटने से भी मरता है, किन्तु ब्रह्म-शाप से कोई नहीं मरता। ब्राह्मण की लाठी से भी किसी-किसी का मरना सुना गया है, किन्तु ब्राह्मण के कहने से कोई नहीं मरा। अतएव यदि मैं शीघ्र न मर सकूँ तो मुझ पर क्रोध न कीजिए त्रिवेदीजी—यह मेरा नहीं, समय का दोष है!

त्रिवे०—सर्वनाश होगा। शिव शिव शिव!

देव०—और कुछ प्रयोजन है?

त्रिवे०—नहीं। केवल यही समाचार सुनाने आया था।

दयामय! हां, तुम्हारे छप्पर में दो-एक अधिक कुम्हड़े लगे हों तो दे सकते हो—मुझे जरूरत है।

देव०—लाये देता हूँ।

(प्रस्थान)

छठा दृश्य

अन्तःपुर—फुलबाग

विक्रमदेव और राजा का मामा वृद्ध अमात्य

विक्र०—झूठी बातें सुनो नहीं, अभियोग हैं
झूठे; अत्याचार न कुछ भी हो रहा।
विजयसेन है सुजन, युधाजित योग्य है,
शिलादित्य का शील प्रशंसित देश में।
उनका है अपराध, विदेशी हैं—यही।
बस, इससे ही यहाँ प्रजा के चित्त में
सुलगा करती आग द्वेष की हर घड़ी;
उससे ही यह निन्दा का काला धुआँ
उठता है।

अमा०— यह बात नहीं है, सैकड़ों
हैं प्रमाण प्रत्यक्ष प्रजा के पक्ष में।
करिए आप विचार।

विक्र०— ज़रूरत कुछ नहीं।

सब प्रमाण हैं व्यर्थ। राज्य इतना बड़ा
न विश्राम के बिना एक दिन चल सके।
जिसका है जो काम उसे वह यत्न से
करता है! सुन निन्दा उनकी नित्य ही
करने लगना बस विचार, क्या ठीक है?
राजा का यह काम नहीं है; इसलिए
जाओ अब तुम आर्य, करूँ विश्राम मैं।
विघ्न न डालो।

अमा०— मन्त्री ने भेजा मुझे।
दर्शन की प्रार्थना करे वह, राज्य के
किसी काम के लिए।

विक्र०— सदा ही राज्य है;
राजकाज भी लगा हुआ है साथ ही।
सुमधुर अवसर बीच बीच में दिख पड़े।
होता अति सुकुमार और अति भीरु वह।
खिल उठता है, जैसे कोई फूल हो।
असमय मे हो चिन्ता के गुरुभार से
कौन तोड़ना चाहेगा, बोलो, उसे?
जानो, है विश्राम भङ्ग कर्त्तव्य का।

अमा० —महाराज फिर जाता हूँ।

(प्रस्थान)

(रानी के आत्मीय अमात्य का प्रवेश)

अमा० — अन्धेर है!

महाराज करिए विचार।

विक्र० — किस बात का?

अमा० —निरपराध हम लोग आपके भृत्य हैं;

झूठा हमको दोष लगाया जा रहा।

विक्र० —कहना होगा सत्य तुम्हारा! किन्तु मैं

करता हूँ विश्वास तुम्हारी बात का

जब तक, तब तक तुम चिन्ता कुछ मत करो।

तुम पर से विश्वास उठेगा जिस घड़ी

सत्यासत्य विचार करूँगा मैं तभी।

जाओ बस।

(अमात्य का प्रस्थान)

विक्र० — यह जीवन, हाय, मनुष्य का

कष्टपूर्ण हो चूर्ण हृदय कर डालता!

पग पग पर दृढ़ नियमों की है शृङ्खला।

खुद फैला कर जाल आप उसमें फँसे।

पञ्जर-पिञ्जर में अशान्त अभिलाष का

पञ्छी है फड़फड़ा रहा। यह किसलिए

है अधीनता जटिल? आत्मपीड़न अहो

क्यों इतना है? क्यों कठोर कर्तव्य का

है यह कारागार? सुखी तू सर्वथा
हे वासन्ती लता! आप ही खिल रही
प्रातःकाल प्रकाश, ओसकण रात को
पाकर रहती गन्ध और मधु से भरी
स्तुति सी करते भ्रमर। झूलती वायु के
झोंकों से। ज्यों झूमा करती मस्त हो।
खिलती शोभा भली कली धारण किये,
ताका करती स्वच्छ नील आकाश को।
सन्ध्या को फिर हरी घास पर आप ही
पड़ जाती है। विधि-निषेध या तर्क का
नाम नहीं है। नहीं रात को नींद में
मर्मस्थल को डँसे सर्प सन्देह का।
सहना पड़ता नहीं तुझे आभास से
हीन प्रेम का वेग!

(सुमित्रा का प्रवेश)

वज्र के हृदय की!
आई है क्या दया? कहो—कुछ तो कहो।
दुनिया भर के काम सभी क्या हो चुके?
तुमको आया याद इसी से दास क्या?
जानो क्या तुम नहीं, सभी कर्त्तव्य से
बढ़कर है यह प्रेम? प्रेम इस हृदय का

है स्वतन्त्र कर्त्तव्य।

सुमित्रा— हाय, धिक् है मुझे!

समझाऊँ किस तरह. छोड़कर आपको
जाती हूँ मैं नाथ, प्रेम से आपके।
महाराज, इस दासी का कहना सुनो—
सभी प्रजा की माता हूँ मैं धर्म की!
सुना न जाता दीन दुखी सन्तान का
कातर क्रन्दन मुझसे अब। इससे प्रभो,
होकर तत्पर दुखियों की रक्षा करो।

विक्र०—रानी, तुम क्या कहा चाहती हो?

सुमि०— सुनो—

मेरी प्यारी प्रजा सताई जा रही
जिनके हाथों, उन्हें निकालो देश से।

विक्र०—कौन सतावे प्रजा, जानती?

सुमि०— जानती।

विक्र०—प्रिये, तुम्हारे ही हैं सब आत्मीय वे!

सुमि०—नहीं नाथ, सन्तानों से बढ़कर सगे
मेरे हैं वे नहीं। हमारे राज्य की
जितनी भूखी है अनाथ दुखिया प्रजा,
उससे बढ़कर और सगा मेरा नहीं।
सिंहासन की आड़, छत्र की छाँह मे
जो शिकार की खोज रोज़ करते फिरें

गुमरूर से, वे ठग हैं, वे चोर हैं।

विक्र०—शिलादित्य, जयसेन, युधाजित हैं।

सुमि०— उन्हें

अभी देश से दो निकाल।

विक्र०— सम्भव नहीं।

यहाँ कर रहे चैन, सहज मे वे कभी

निकल न सकते, सिवा युद्ध के।

सुमि०— नाथ तो

करिए उनसे युद्ध।

विक्र०— युद्ध! नारी, तुम्हें

कौन कहेगा रमणी? अच्छा, युद्ध मैं

ठानूँगा। पर उसके पहले तुम मुझे

आत्मसमर्पण कर दो; सबको छोड़ दो;

केवल मेरा ध्यान रहे, बस, हर घड़ी।

घर-बाहर, संसार, सभी निस्सार है—

ऐसा मन में सोच, काम छोड़ो सभी।

तब मैं होकर तृप्त, जीतने के लिए

विश्व-राज्य को निकलूँगा! जब तक मुझे

योंही रक्खोगी अतृप्त, तब तक तुम्हें

छोड़ न सकता, भाग्य-सदृश पीछे लगा।

सुमि०—महाराज, तो मुझको आज्ञा दीजिए।

रानी होकर हरूँ प्रजा के दुःख को।

(प्रस्थान)

विक्र०—इसी तरह कर रहों मुझे व्याकुल वृथा।
तुम महत्त्व के उच्च शिखर पर हो खडी
प्रिये, अकेली; मैं तुम को पाता नहीं।
इससे मैं हर घडी तुम्हीं को चाहता!
तुम करती हो काम तुम्हें मैं खोजता!
कभी मिलोगी मुझसे मन से या नहीं?

(देवदत्त का प्रवेश)

देव०—जय रानीजी—कहाँ महारानी, यहाँ
महाराज क्यों आप अकेले हैं खड़े?
विक्र०—तुम आये किसलिए? यहाँ क्या काम है?
ब्राह्मण का षड्यन्त्र महल मे चल रहा!
रानी से यह समाचार किसने कहा?
देव०—खबर राज्य की आप राज्य ने दी प्रभो।
मचा हुआ अन्धेर, सुनाई कुछ नहीं।
बिलख-बिलखकर प्रजा रो रही राज्य की।
हमको क्या है खबर, विशेष विलाप से
विघ्न पड़ेगा राजा के आराम में।
डरिए मत, मैं तो कुछ भिक्षा माँगने
रानीजी की सेवा में आया प्रभो।

घर में दाना नहीं एक भी अन्न का,
उधर भूख के मारे व्याकुल प्राण हैं !

(प्रस्थान)

विक्र०—सुखी रहे सब प्रजा राज्य की; किसलिए
यह पीड़ा, यह दु:ख और रोना मचा ?
क्यों है अत्याचार, सताना दीन को ?
क्यों होता अविचार और अन्याय है ?
क्यों मनुष्य पर यों मनुष्य का हो रहा
विकट उपद्रव ? दुर्बल के सुखचैन को
सबल बाज सा क्यों हर लेना चाहता ?
देखूँ, कुछ हो सके यत्न जो शान्ति का !

सातवाँ दृश्य

मन्त्र-भवन

विक्रमदेव और मन्त्री

विक्र०—सब विदेशियों को निकाल दो राज्य से
इसी घड़ी ! वे दस्यु दण्ड के योग्य हैं !
सदा पीडितों की पुकार ही सुन पड़े,
कैसा यह अन्धेर राज्य में मच रहा !
बस, अब पीड़ित की पुकार मत सुन पड़े !
मन्त्री—महाराज, कुछ समय चाहिए: धैर्य के

बिना न होगा काम; देखिए कुछ दिनों
सभी ओर, तब सब गड़बड़ मिट जायगी—
शोकाकुल या भीत न होगा एक भी।
अन्धकार में बहुत दिनों से बढ़ रहा
कठिन अमङ्गल; उसे एक दिन में कभी
मिटा न सकते आप।

विक्र०— नहीं, उसको अभी
जड़ से दूँगा मैं उखाड़, ज्यों ज़ोर से
बढ़ई काटे पेड़ सैकड़ों साल का !

मं०—सहज नहीं है, शस्त्र चाहिए, सैन्य भी

वि०—सेनापति है कहाँ?

मं०— विदेशी वह स्वयं।

वि०—तो फिर कुछ वश नहीं, प्रजा जो दीन है,
उसको देकर अन्न और धन चुप करो।
कह दो, जाकर रहें जहाँ पर सुख मिले।

(प्रस्थान)

(देवदत्त के साथ सुमित्रा का प्रवेश)

सुमि०—मैं रानी हूँ भाग्यहीन इस देश की,
तुम मन्त्री हो?

मं० — हाँ, प्रणाम स्वीकार हो।
क्षमा कीजिए, दास ढिठाई कर रहा,—

अन्तःपुर को छोड, इस जगह किसलिए
आईं जननी आप ?

सुमि०— प्रजा का दुःख ही
अन्तःपुर से खींच यहाँ लाया मुझे।
उसका कुछ प्रतिकार करूँगी आज मैं।

मं० —आज्ञा क्या है मुझे ?

सुमि०— विदेशी जो यहाँ
शासक हैं, तुम उन्हें बुलाओ शीघ्र ही।
कह दो, मैंने उन्हे बुलाया है यहाँ।

मं० —सहसा ऐसे यहाँ बुलाने मे, उन्हें
संशय होगा, आवेंगे भी वे नहीं।

सुमि०—रानी का आदेश न मानेंगे ?

मं० — नहीं,
राजा-रानी सभी स्वयं वे लोग हैं।

सुमि०—अच्छा तो फिर एक करो उत्सव नया
भैरव-पूजा का, विशेष उद्योग से।
उसमे उनको यहाँ बुला भेजो। तभी
होगा न्याय विचार। गर्व-से अन्ध वे
करें न जो स्वीकार दण्ड, तो सैन्य भी
रखना तुम तैयार पास ही उस घड़ी।

देव०—दूत बनाकर किसे भेजना चाहिए ?

मं० —दूत त्रिवेदी को बनाइए। हैं वही

भोलेभाले धर्मभीरु ब्राह्मण। वहाँ
उन पर होगा नहीं तनिक सन्देह भी।
देव०—सरल त्रिवेदी? उनका भोला भाव ही
पूरा जादू डाल बनाता मूर्ख है।
टेढ़ेपन का सरल भाव आधार है!

आठवाँ दृश्य

त्रिवेदी का घर

मन्त्री और त्रिवेदी

मन्त्री—समझे त्रिवेदीजी, यह काम आपके सिवा और किसी को सौंपा नहीं जा सकता।

त्रिवे०—सो तो समझा। हे हरि! किन्तु मन्त्रीजी, काम के समय मुझे बुलाते हो और पुरोहिती देने के समय देवदत्त की खोज होती है!

मन्त्री—तुम तो जानते हो त्रिवेदीजी, देवदत्त वेदपाठी ब्राह्मण हैं, उनसे और कोई काम नहीं हो सकता! वह केवल मन्त्र पढ़ सकते हैं, और घण्टा हिला सकते हैं।

त्रिवे०—क्यों, मेरी क्या वेद के ऊपर कम भक्ति है? मैं वेद की पूजा करता हूँ, इसी से वेद-पाठ करने की सुविधा नहीं होती। चन्दन और सेंदुर के मारे वेद का एक अक्षर भी नहीं देख पड़ता। आज ही मैं जाऊँगा! हे मधुसूदन!

मन्त्री—क्या कहिएगा?

त्रिवे०—मैं कहूँगा, कालभैरव की पूजा है, इसी से राजा ने तुमको निमन्त्रण दिया है—मैं ख़ूब लम्बे-लम्बे अलङ्कार जोड़कर ही संदेसा कहूँगा—सब बातें इस समय याद नहीं आतीं—राह में जाते-जाते सोच लूँगा। हे हरि, तुम्हीं सत्य हो!

मन्त्री—जाने से पहले एक बार मुझसे मिल लीजिएगा।

(प्रस्थान)

त्रिवे०—मैं निर्बोध हूँ, मैं बच्चा हूँ, मैं सीधा-सादा हूँ, मैं तुम्हारा काम निकालनेवाला बैल हूँ! पीठ पर बोरी, नाक में नकेल, कुछ समझूँगा नहीं, केवल पूँछ के मरोड़ खाकर चलता रहूँगा—और शाम को तुम मुझे थोड़ी सी खली खाने के लिए दे दोगे! हे हरि, तुम्हारी इच्छा! देखा जायगा, कौन कितना समझता है! अरे ओ, अभी तक पूजा की सामग्री नहीं दी? देर हो रही है! नारायण! नारायण!

दूसरा अङ्क

पहला दृश्य

सिंहगढ़—जयसेन का महल

जयसेन, त्रिवेदी और मिहिरगुप्त

त्रिवे०—तो भैया, तुम जो इस तरह लाल-लाल आँखें निकालोगे तो आत्मविस्मृति दोष घटित होगा। भक्तवत्सल गोपाल! देवदत्त और मन्त्री ने मुझको अच्छी तरह सिखला दिया है—क्या कह रहा था?—हाँ, हमारे राजा ने कालभैरव की पूजा नाम का एक उपलक्ष करके—

जय०—उपलक्ष करके?

त्रिवे०—हाँ, उपलक्ष ही सही, इसमें दोष क्या है? मधुसूदन! हाँ, सो तुमको चिन्ता हो सकती है। उपलक्ष शब्द कुछ काठिन्यकुण्ठित है—मैं देखता हूँ, उसके यथार्थ अर्थ को निराकार करने में अनेक लोग गड़बड़ में पड़ जाते हैं।

जय०—वही तो, पण्डितजी! उसके यथार्थ अर्थ का ही निर्णय कर रहा हूँ!

त्रिवे०—राम नाम सत्य है! अच्छा उपलक्ष न कहो, उपसर्ग कहो। शब्दों की क्या कमी है भैया? शास्त्र में लिखा है—शब्द ब्रह्म है। अतएव चाहे उपलक्ष कहो चाहे उपसर्ग, अर्थ एक ही निकलेगा।

जय०—ठीक है। राजा ने हम लोगों को बुलाया है, इसका उपलक्ष और उपसर्ग तक समझ में आ गया—अब ख़ुलासा करके यह कहो कि उसका यथार्थ कारण क्या है?

त्रिवे०—यही तो मैं कह नहीं सकता भैया—यही तो मुझसे किसी ने समझाकर कहा नहीं। हे हरि!

जय०—ब्राह्मण, तुम बड़े कठिन स्थान में आये हो। छिपाओगे तो आफ़त में पड़ोगे।

त्रिवे०—हे भगवन्! हां देखो भैया, तुम क्रोध न करो। तुम्हारा स्वभाव तो मधुमत्त मधुकर का ऐसा नहीं जान पड़ता।

जय०—बहुत बनो नहीं महराज, यथार्थ कारण जो जानते हो, कह डालो।

त्रिवे०—वासुदेव! सभी बातों का क्या यथार्थ कारण हुआ करता है? और अगर रहता भी हो तो क्या सब लोग उसे जान सकते हैं? जिन्होंने गुप्तरूप से सलाह की है वे ही जानें, मन्त्री जानें, और देवदत्त जानें। सो भैया, तुम अधिक चिन्ता न करो। जान पड़ता है, वहाँ पहुँचते ही यथार्थ कारण तुमको मालूम हो जायगा।

जय०—मन्त्री ने तुमसे और कुछ नहीं कहा?

त्रिवे०—नारायण, नारायण! तुम्हारी सौगन्ध, कुछ नहीं कहा। मन्त्री ने यही कहा कि "पण्डितजी, जो मैंने कहा है, इसके सिवा और कुछ भी न कहना। देखो, तुम पर ज़रा भी सन्देह न कर सकें।" मैंने कहा—"हे राम!

सन्देह क्यों करेंगे? तो भी कह नहीं सकता, शायद सन्देह करें। मैं तो सीधे स्वभाव से कह दूँगा। जिसको सन्देह करना होगा वह करेगा।' हे हरि, तुम ही सत्य हो!

जय०—पूजा के उपलक्ष्य में निमन्त्रण दिया है, यह तो एक साधारण बात है,—इसमें सन्देह होने का क्या कारण हो सकता है?

त्रिवे०—तुम लोग बड़े आदमी ठहरे, तुम लोगों में इसी तरह हुआ करता है। नहीं तो शास्त्र क्यों कहता—"धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः।" अगर कोई तुमसे आकर कहे कि "आ तो सही पाजी, तेरा सिर अभी धड़ से अलग किये देता हूँ," तो तुम लोग समझते हो कि और चाहे जो हो, यह आदमी धोखेबाज़ नहीं है—सचमुच सिर के ऊपर इसकी नज़र है। किन्तु जो कोई आकर कहे कि "आओ तो भैया, धीरे-धीरे तुम्हारी पीठ पर हाथ फेरें," तो चट तुम्हारे मन में सन्देह उत्पन्न हो जाता है। जैसे सिर पर हाथ सफ़ा करने की अपेक्षा पीठ पर हाथ फेरना कठिन है। भगवन्, जो राजा स्पष्ट करके कहता कि ज़रा पास आओ तो तुममें से एक-एक को पकड़कर राज्य से निकाल दूँगा, तो ये लोग कभी सन्देह न करते कि राजकन्या के साथ ब्याहने के लिए ही तो राजा ने नहीं बुला भेजा। किन्तु राजा ने यह कहला भेजा है न कि हे बन्धुओ, राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः, अतएव तुम लोग पूजा के उपलक्ष्य में यहाँ आकर मिष्टान्न भोजन करो।

बस, सुनते ही तुमको सन्देह ने घेर लिया कि वह मिष्टान्न भोजन न जाने किस तरह का है! हे मधुसूदन! सो भैया, ऐसा होता भी है! बड़े लोगों की साधारण बात में सन्देह होता है, और साधारण आदमी की बड़ी बातें सुनकर सन्देह होता है।

जय०—त्रिवेदीजी, आप बड़े ही सरल स्वभाव के आदमी हैं। मुझको जो कुछ सन्देह भी था वह आपकी बातों से दूर हो गया।

त्रिवे०—तुमने ठीक कहा। मैं तुम लोगों के समान बुद्धिमान् नहीं हूँ—सब बातों की तह तक नहीं पहुँच सकता—किन्तु भैया, मैं तो पुराणसंहिता के "अन्य परे का कथा" इस वचन के अनुसार हूँ, अर्थात् औरों की बात में कभी नहीं रहता!

जय०—और किन-किस को निमन्त्रण देने आप आये हैं?

त्रिवे०—तुम लोगों का नाम तो मुझे याद ही नहीं रहता। तुम कश्मीरियों का जैसा स्वभाव है वैसे ही तुम लोगों के नाम भी श्रुतिकटु हैं। हाँ, इस राज्य में तुम्हारे दल का जो जहाँ है सबको निमन्त्रण दिया गया है। शूलपाणि! कोई नहीं रह जायगा।

जय०—जाइए त्रिवेदीजी, अब विश्राम कीजिए।

त्रिवे०—तुम लोगों का सन्देह बिलकुल दूर हो गया, यह सुनकर मन्त्री बहुत प्रसन्न होगा। माधव-मुकुन्द-मुरारे!

(प्रस्थान)

जय०—मिहिर गुप्त, सब हाल तो तुमने समझ ही लिया। अब गौरसेन, युधाजित, उदयभास्कर आदि के पास शीघ्र आदमी भेजो। कहो, शीघ्र ही सब लोग एक जगह पर जमा हों। इस तरह जमा होकर कुछ निश्चय करना चाहिए।

मिहिर०—जो आज्ञा।

दूसरा दृश्य

अन्तःपुर

विक्रमदेव और रानी के आत्मीय सभासद

१ सभा०—महाराज हैं धन्य!

२ सभा०— धन्य हैं!

३ सभा०— धन्य हैं!

विक्र०—क्यों इतने हैं धन्यवाद ?

१ सभा०— लक्षण यही

है महत्त्व का, दृष्टि सदा सब पर रहे।
जो प्रवास में पड़े आपके भृत्य हैं—
शिलादित्य, जयसेन आदि, उनको किया
स्मरण आपने उत्सव में। आनन्द से
विह्वल हैं वे। शीघ्र आ रहे सब प्रभो!

विक्र०—जाओ-जाओ! तुच्छ बात, उसके लिए
यशोगान यह! मेरा जाना भी नहीं

मिला निमन्त्रण किसे किसे इस यज्ञ मे !

२ सभा० —सबको होता हर्ष उदय से सूर्य के,
सभी चराचर विश्व प्रकाशित हो उठे,
नहीं सूर्य को उसकी कुछ परवाह है—
हानि-लाभ भी नहीं । कहाँ, किस तृण तले,
उसकी किरणों से प्रसन्न हो खिल रहा
कौन जङ्गली फूल—सूर्य जाने नहीं ।
अवहेला के साथ कृपा-वर्षा करो,
कण भी मिलना जिसे वही नर धन्य है ।

विक्र०—ठहरो, ठहरो, ख़ूब ख़ुशामद हो चुकी ।
करता हूँ मैं कृपा, आप सब स्तुति करें ।
जो कविता की थी, सुना चुके सो, चलो
जाओ ! (सभासदों का प्रस्थान)

(सुमित्रा का प्रवेश)

विक्र० — जाती कहाँ, सुनो—रानी सुनो !
फिरकर मेरी ओर तनिक तो देख दो !
मुझको राजा सभी लोग मानें, तुम्ही
दीन समझती, बाहर विस्तृत हो रहा
मेरा राज्यैश्वर्य, तुम्हारी दृष्टि मे
वह क्षुधार्त्त कङ्काल-सार है वासना ।
इससे ही क्या घृणा-दर्प से जा रहीं

मुझे छोड़ इस तरह राजराजेश्वरी ?

सुमि०—महाराज, जो प्रेम प्रजा सब चाहती,
कभी न उसके योग्य अकेली मैं।

विक्र०— प्रिये,
दीन कापुरुष मैं हूँ! मैं अपदार्थ हूँ!
अन्तःपुर में पड़ा रहूँ! कर्त्तव्य से
विमुख हुआ! पर यह तो रानीजी कहो,
मेरी क्या थी प्रकृति यही? मैं क्षुद्र हूँ,
तुम महीयसी? तुम हो ऊँचे पर खड़ी,
और धूल में लोट रहा मैं? यह नहीं।
अपनी क्षमता मैं जानूँ। इस हृदय में
है दृढ़ दुर्जय शक्ति। प्रेम के रूप से
दी मैंने वह तुम्हें। वज्र के अग्नि की
विद्युन्माला बना पिन्हा दी कण्ठ में
प्रिये, तुम्हारे।

सुमि०— घृणा करो, मुझको घृणा,
वह भी अच्छा नाथ। भुला दो जो मुझे
सह लूँगी तो इसे, किन्तु तिय के लिए
पौरुष तज कर्त्तव्य-विमुख मत होइए।

विक्र०—इतना ऐसा प्रेम, जो कि अप्राप्य है,
उसका ऐसा हाय अनादर! चाहतीं
नहीं प्रेम यह? किन्तु उसे माँगे बिना

लेती हो तुम छीन, दस्यु ज्यों द्रव्य को।
चला रही हो छुरी उपेक्षा की अहो
रक्तसिक्त इस तप्त प्रेम के मर्म में!
देती हो फिर फेंक धूल में यों उसे!
निर्मम निष्ठुर प्राणहीन पाषाण की
प्रतिमा हो तुम। तुमसे मैं अनुरागवश
जितना लिपटूँ, उतना ही घायल करो।

सुमि०—चरणों में है पड़ी हुई दासी, प्रभो,
जो चाहो सो करो, मुझे 'नाहीं' नहीं।
तिरस्कार किसलिए आज यह नाथ है?
कठिन वचन के बाण आज क्यों मारते?
कितने ही अपराध क्षमा जिसके किये
बिना दोष क्यों उस पर ऐसा रोष है?

विक्र०—उठो, उठो, प्रियतमे, हृदय से आ लगो;
दीप्त हृदय की ज्वाला को तुम दो बुझा।
उज्ज्वल आँसू सुधाबिन्दु से ये गिरें;
इनमें कितनी क्षमा, प्रेम कितना भरा,
कैसा आश्रित भाव भक्ति से पूर्ण है!
अर्जुन के अति तीक्ष्ण बाण की चोट से
ज्यों धरती फट गई और जल वह चला,
वैसे तीखी बात लगे से हृदय में
अश्रुरूप से प्रेम-फुहारा छूटता।

नेपथ्य में—रानी जी!

सुमि०—(आँसू पोंछकर) हाँ आर्य, कार्य क्या हो गया?

(देवदत्त का प्रवेश)

देव०—नहीं, निमन्त्रण में आवेंगे वे नहीं,
करने को विद्रोह सभी तैयार हैं!

सुमि०—महाराज, सुन लिया?

विक्र०— पुरोहितजी, सुनो,
अन्तःपुर का महल मन्त्रणागृह नहीं!

देव०—नहीं मन्त्रणामन्दिर अन्तःपुर, प्रभो,
इसी लिए तो कभी वहाँ दर्शन नहीं
मिले आपके।

सुमि०— कुत्ते ये सिर चढ़ गये!
जूठन खाकर पले राज्य की! आज यों
करने को विद्रोह हुए तैयार हैं!
कैसा है यह अहङ्कार? हुङ्कार से
कर दो चटपट चूर्ण पूर्ण उत्पात को।
क्या अब भी है समय मन्त्रणा के लिए?
व्यर्थ मन्त्रणा। महाराज, यह यन्त्रणा
यों न मिटेगी। सेना लेकर शीघ्र ही
रक्त चूसनेवाले कीड़े पैर से
मल डालो!

विक्र०— यह बात महज इतनी नहीं।

सेनापति है स्वयं शत्रु के पक्ष का!

सुमि०—नाथ, आप ही सेना लेकर जाइए।

विक्र०—क्या तुम मुझको अपना कण्टक जानतीं?

मैं न हिलूँगा कभी यहाँ से। सन्धि का

भेजूँगा प्रस्ताव। उपद्रव यह कभी

होने दूँगा नहीं। सर्प था सो रहा;

ब्राह्मण, नारी, दोनों ने मिलकर उसे

जगा दिया; यह भी क्या कोई खेल है!

अपनी रक्षा न कर सकें जो मूढ़, वे

बेखटके आपत्ति और पर डाल दें!

सुमि०—राजन्, ऐसी बुद्धि! तुम्हें धिक्कार है!

मुझको भी धिक्!

(प्रस्थान)

विक्र०— देवदत्त, बन्धुत्व का

पुरस्कार है यही? वृथा, आशा वृथा!

प्रणय लिखा ही नहीं भाग्य में भूप के।

छाया-संगी-हीन शैल ज्यों हो खड़ा,

वैसे महिमा प्रेम-हीन रूखी यहाँ

महाशून्य में खड़ी अकेली, (जल रहा

ऊँचा मस्तक तीव्र ताप-सन्ताप से!)

आँधी आकर करे आक्रमण वेग से,

करके आँखें लाल देखते सूर्य भी,
बिजली ऊपर गिरती है आकाश से,
पृथ्वी पकड़े पैर पड़ी रहती सदा !
किन्तु प्रेम है कहाँ ? भूप का हृदय भी
अन्य हृदय के लिए बिलखकर रो रहा।
हाय मित्र, इस जीवन में राजत्व का
ढोंग दिखाना, बस, विडम्बना है निरी !
सिंहासन राजा का ऊँचा दम्भ से
अभी चूर्ण हो, पूर्णरूप से भूमि के
बने बराबर एक बार तो पा सकूँ
तुम लोगों को विकल हृदय के पास हो।
बाल्यसखा ! मैं राजा हूँ, यह भूलकर,
कैसी है यह व्यथा मित्र के हृदय की,
इसका अनुभव करो, मित्र के भाव से !

देव० —मेरा हृदय सखा, यह अपना जानिए।
रीझ न केवल, स्व-कृत तुम्हारी खीझ भी
सहने को तैयार हृदय यह है सदा।
सागर अतिगम्भीर, गगन के वज्र को
सहता ज्यों चुपचाप हृदय के बीच है
वैसे ही क्रोधाग्नि तुम्हारी, मैं करूँ
सहन हृदय से।

विक्र०— देवदत्त, यह किसलिए

करो रङ्ग में भङ्ग? अरं सुख-स्वर्ग में
हाहाकार अपार किसलिए ला रहे?

देव०—मित्र, लगी है आग भवन में; मैं यहाँ
लाया केवल समाचार! सुख-नींद में
डाला मैंने विघ्न!

विक्र०— बुरा तुमने किया!
इससे तो सुख-स्वप्न देखते मृत्यु ही
अच्छी थी।

देव०— यह समझ तुम्हारी! शोक है!
महाराज, सब राज्य मृत्यु-मुख में पड़ा;
तुच्छ स्वप्न-सुख तब भी तुमको प्रिय लगे?

विक्र०—योगासन-आसीन ध्यान में लीन जो
योगी, उसके निकट प्रलय भी विश्व का
क्या है? यह संसार स्वप्न है! कुछ दिनों
बाद, रहेगा याद किसे यह आज का
दुःख और सुख? मित्र, जहाँ चाहो वहाँ
जाओ। छोड़ो मुझे। हृदय की सान्त्वना
है अपने ही पास। चलूँ, देखूँ, कहाँ
रानी करके घृणा गई है क्षोभ से।

(प्रस्थान)

तीसरा दृश्य

मन्दिर

मर्दाने लिबास में रानी सुमित्रा

और बाहर अनुचर

सुमि०—जगदम्बे! मैया! दुर्बल हृदयवाली बालिका को क्षमा करना! आज सब पूजा व्यर्थ हुई—केवल वही सुन्दर मुख, वही प्रेमपूर्ण दोनों आँखें, वही पलँग पर अकेले सोये हुए महाराज याद आते हैं! हाय मैया, स्त्री का हृदय क्या ऐसा पोढ़ा है? दक्ष के यज्ञ मे जब तुम गई थीं सतीजी, तब क्या पग-पग पर तुम्हारे हृदय ने तुम्हारे दोनों पैरों को पकड़-कर यह नहीं कहा था कि तुम अपने पति के घर लौट जाओ? उस कैलास की राह में फिर वे तुम्हारे चरण-कमल नहीं लौटे! मैया! उस दिन की बात स्मरण कर लो! जननी! मैं स्त्री-हृदय की बलि देने आई हूँ—स्त्री का प्रेम, तोड़े हुए रक्त कमल के समान, इन चरणों मे चढ़ाने आई हूँ। तुम स्त्री हो, स्त्री के हृदय का हाल जानती हो। मैया! मुझको बल दो! रह-रहकर मुझे राजभवन की ओर से उसी प्रेमपूर्ण परिचित पुराने स्वर मे सुनाई पड़ रहा है—

"लौट आओ, लौट आओ रानी।" तुम अपना खाँड़ा लेकर आओ, राह रोककर खड़ी होओ। कहो—"तुम जाओ, राजधर्म जग उठे, राजा धन्य हो, प्रजा सुखी हो, राज्य में कल्याण फिर आवे, सब अत्याचार दूर हों, राज्य के

यश की किरणों से कलङ्क की कालिमा मिट जाय। तुम स्त्री हो, पृथ्वी में एक किनारे जहाँ स्थान पाओ वहाँ अकेली बैठी-बैठी छाती फाड़कर अपने दुःख में मरो।" पिता के सत्य की रक्षा करने के लिए रामचन्द्र वन को गये—पति के सत्य-धर्म का पालन करने के लिए मैं भी जाऊँगी। महाराज राजलक्ष्मी के प्रति अपने कर्त्तव्य के जिस सत्य में बँधे हुए हैं वह कभी एक साधारण स्त्री के कारण व्यर्थ न होगा।

(बाहर एक पुरुष और स्त्री का प्रवेश)

अनुचर—तुम कौन हो? खड़े होओ यहाँ।

पुरुष—क्यों बाबा? यहाँ भी क्या जगह नहीं है?

स्त्री—मैया री! यहाँ भी वही सिपाही!

(सुमित्रा का बाहर आना)

सुमि०—तुम कौन हो जी?

पुरु०—मिहिरगुप्त ने हमारे लड़के को पकड़ रक्खा है और हमको निकाल दिया है। हमारे पास न कुछ खाने को है, और न चूल्हा-चक्की है—मरने के लिए जगह तक नहीं है—इसी से हम देवी के मन्दिर में आये हैं—मैया के आगे हत्या देंगे—देखें वह हमारी क्या गति करती है।

स्त्री—सो क्यों जी, तुमने यहाँ भी सिपाही रख दिये हैं? राजा का द्वार बन्द है, और मैया का द्वार भी रोक रक्खा है?

सुमि०—नहीं, मैया, तुम लोग आओ। यहाँ तुम लोगों को कुछ भी भय नहीं है। किसने तुम पर अत्याचार किया है?

पुरु०—इसी जयसेन ने। हम राजा के पास अपना दुखड़ा रोने गये, राजा के दर्शन नहीं मिले—वहाँ से लौट आकर देखा, हमारे घर को जला दिया है और हमारे लड़के को पकड़ ले गये हैं।

सुमि०—(स्त्री से) हाँ जी, तो तुमने रानी से जाकर क्यों नहीं कहा?

स्त्री—अजी, रानी ने ही तो राजा पर जादू डाल रक्खा है! हमारा राजा अच्छा है; राजा का दोष नहीं है, यह जो एक विदेश से रानी आई है उसने अपने कुटुम्ब के लोगों को ही अगुआ बना रक्खा है। वे सब प्रजा का ख़ून चूसे लेते हैं!

पुरु०—चुप रह! तू रानी का हाल क्या जाने? जो बात जानी न हो उसे कभी न कहना चाहिए।

स्त्री—मैं जानती हूँ, अच्छी तरह जानती हूँ! यह रानी ही राजा के पास बैठे-बैठे हम लोगों की बुराई करती है!

सुमि०—ठीक कहती हो मैया! यह रानी ही तो सब अनर्थों की जड़ है! सो अब वह बहुत दिनों तक नहीं रहेगी। उसकी पाप की नाव भर गई है! यह लो, अपनी शक्ति भर मैं तुमको कुछ देता हूँ—सब दुःख नहीं दूर कर सकता।

पुरु०—आहा, तुम ज़रूर किसी राजा के लड़के हो—तुम्हारी जय हो! (दोनों का प्रस्थान)

सुमि०—बस, अब देर नहीं—अभी जाऊँगी।

(प्रस्थान)

(त्रिवेदी का प्रवेश)

त्रिवे०—हे हरि, मैंने क्या देखा! मर्दाने लिबास में रानी सुमित्रा घोड़े पर चढ़कर चली गईं। मन्दिर में देवी-पूजा का बहाना करके राज्य छोड़कर भाग गईं। मुझको देखकर बहुत प्रसन्न हुईं! मधुसूदन! रानी ने सोचा, ब्राह्मण बहुत ही सीधे स्वभाव का है। सिर पर जैसे एक बाल नहीं है वैसे ही हृदय के भीतर बुद्धि का लेश भी नहीं है। इसके द्वारा एक काम करा लो। इसके मुँह से राजा को दो-एक मीठी बातें कहला भेजो! बाबा, तुम लोग जीते रहो। जब तुमको कुछ ज़रूरत पड़े, बूढ़े त्रिवेदी को ढूँढो, और दान-दक्षिणा के समय देवदत्त हैं। दयामय! सो मैं रानी की मीठी बातों को और भी मीठे स्वर में सुनाऊँगा। मेरे मुँह में आकर मीठी बातें और भी मीठी हो उठती हैं! कमललोचन! राजा सुनकर कैसे प्रसन्न होंगे! बातों को जितना बढ़ा-बढ़ाकर मैं कहूँगा उतना ही राजा का मुँह उत्कण्ठा से फैलेगा। मैंने कई बार देखा है, मेरे मुँह से बड़ी बड़ी बातें सुनने में अच्छी लगती हैं। लोगों को बड़ा मज़ा आता है। वे कहते हैं, ब्राह्मण बहुत ही सरल स्वभाव का आदमी है! पतितपावन! कह नहीं सकता, अब की कितना मज़ा मालूम होगा! किन्तु

मैं शब्द-शास्त्र को एक-दम मथकर उलट-पुलट डालूँगा। आः कैसा दुर्योग आ पड़ा! आज दिन भर देव-पूजा नहीं की, अब ज़रा पूजा-पाठ में मन लगाता हूँ। दीनबन्धो, भक्तवत्सल!

(प्रस्थान)

चौथा दृश्य

महल

विक्रम देव, मन्त्री और देवदत्त

विक्र०—भागना! राज्य छोड़कर भागना! इस राज्य में जितनी सेना, जितने गढ़, जितने क़ैदख़ाने, जितनी लोहे की शृङ्खलाएँ हैं, वे सब क्या दृढ़ बल से एक क्षुद्र स्त्री के हृदय को नहीं बाँधकर रख सकते? यही राजा और उसकी महिमा है? बड़ा भारी प्रताप, लोकबल और धनबल को लिये, शून्य सोने के पिंजड़े की तरह पड़ा रहता है, क्षुद्र पक्षी उड़कर चला जाता है।

मन्त्री—हाय हाय, महाराज! लोकनिन्दा, बाँध टूटने पर जल के प्रवाह की तरह चारों ओर फैलती है।

विक्र०—चुप रहो मन्त्री। क्या सदा लोकनिन्दा लोकनिन्दा किया करते हो! अलस लोगों की जीभ निन्दा के बोझ से गिर पड़े! दिन अगर गया तो क्षुद्र कीचड़ के गढ़े से गन्दी भाफ उठने दो; उससे कुछ मेरा अन्धकार बढ़ न जायगा। लोकनिन्दा!

देव०—मन्त्रीजी, परिपूर्ण सूर्य की ओर कौन आँख उठाकर देख सकता है? इसी से ग्रहण के समय सब लोग दौड़ आते हैं और दीनदृष्टि से दुर्दिन के दिननायक की ओर निहारते हैं। अपने कज्जललिप्त काचखण्ड से आकाश के प्रकाश को काला देखते हैं। महारानी! जननी! यही क्या तुम्हारे भाग्य में बदा था? तुम्हारा नाम धूल में लोटे? तुम्हारा नाम हर एक की ज़बान पर फिरे? यह आज कैसा दुर्दिन है? तब भी तुम तेजस्विनी सती हो! और ये सब राहु के कङ्काल हैं।

विक्र०—त्रिवेदी कहाँ गये? मन्त्री, उन्हें बुला लाओ! उनकी सब बातें नहीं सुनीं; मेरा ध्यान और तरफ़ था।

मन्त्री—जाता हूँ, बुलाये लाता हूँ! (प्रस्थान)

विक्र०—अभी समय है; पता लग जाय तो उसे लौटा सकता हूँ! फिर पता? इसी तरह क्या सदा जीवन बीतेगा? वह ढूँढ़े न मिलेगी, और मैं पीछे-पीछे फिरूँगा? प्रेम की ज़ञ्जीर हाथ में लिये राज्य और काम-काज को छोड़कर केवल स्त्री के भागे हुए हृदय का ही पता लगाता फिरूँगा? भागो, भागो नारी, सदा दिन-रात भागती फिरो। गृह-हीन, प्रेम-हीन, विश्राम-हीन, खुली हुई पृथ्वी में केवल अपनी छाया को पीछे लिये भागती फिरो।

(त्रिवेदी का प्रवेश)

विक्र०—चले जाओ, दूर हो, तुमको किसने बुलाया है?

प्रगल्भ! ब्राह्मण! मूर्ख! बार-बार उसकी बात कौन सुनना चाहता है?

त्रिवे०—हे मधुसूदन! (जाने का नाट्य करता है)

विक्र०—सुनो, सुनो, दो-एक बातें पूछनी हैं। उसकी आँखों में आँसू थे?

त्रिवे०—चिन्ता नहीं है भैया! मैंने आँसू नहीं देखे।

विक्र०—झूठ ही कहो! बहुत नहीं, अति क्षुद्र सकरुण दो झूठी बातें! हे ब्राह्मण, तुम बूढ़े हो, तुम्हारी दृष्टि कमज़ोर है, तुमने किस तरह यह जाना कि उसकी आँखों में आँसू नहीं थे? अधिक नहीं, एक बूँद आँसू! नहीं तो डबडबाई हुई आँखें ही बताओ. कम्पित कातर कण्ठ से आँसुओं से रुँधी हुई वाणी का ही कथन करो! वह भी नहीं? सच कहो—झूठ कहो! कुछ न कहो, कुछ न कहो, चले जाओ!

त्रिवे०—हे हरि, तुम ही सत्य हो। (प्रस्थान)

विक्र०—अन्तर्यामी देव! तुम जानते हो, मेरे जीवन का सब अपराध यही है कि मैं उसे चाहता था। पुण्य गया, स्वर्ग गया, राज्य भी जाना चाहता है, अन्त को वह भी चली गई! तो फिर मेरा वही क्षत्रधर्म, वही राजधर्म 'लौटा दो' या 'फिर मुझे दो!' इस विश्व की रङ्गभूमि में पुरुष-हृदय को खोल दो! कर्मक्षेत्र कहाँ है! जनसमूह कहाँ है! जीवन-मरण कहाँ है! वह मनुष्यों का अविराम सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति, जीवन की लहरों का उच्छ्वास कहाँ है—

(मन्त्री का प्रवेश)

मन्त्री—महाराज, रानीजी का पता लगाने के लिए मैंने चारों ओर सवारों को भेजा है।

विक्र०—लौटाओ, लौटाओ, मन्त्री! मोह की नींद में मैं सपना देख रहा था—अब आँख खुल गई है! सवार लोग कहाँ उसको पावेंगे? सब सेना तैयार करो, मैं युद्धयात्रा करूँगा, विद्रोह को मिटाऊँगा!

मं०—जो आज्ञा! (प्रस्थान)

विक्र०—देवदत्त, क्यों मुँह लटकाये हुए हो? क्षुद्र सान्त्वना की बात मत कहो। मुझे छोड़कर चोर चला गया—मैं बच गया! मित्र, आज आनन्द का दिन है! आओ, गले से लग जाओ! (देवदत्त को गले से लगाकर) मित्र, मित्र, झूठ बात है—मेरा यह ढोंग झूठा है! रह-रहकर मानो हजारों वज्र एक साथ इस हृदय पर गिर रहे हैं। आओ, आओ, ज़रा गले से लगकर आँसू बहावें! ये शोक के काले बादल हट जायँ।

तीसरा अङ्क

पहला दृश्य

कश्मीर—राज-महल के सामने सड़क

द्वार पर शङ्कर

शङ्कर—इतना सा था, मेरी गोद मे खेला करता था। जब केवल चार दाँत निकले थे तब मुझे वह 'सङ्कल दादा' कहता था। अब बड़ा हो गया है। अब सङ्कल दादा की गोद नहीं, सिंहासन चाहिए। स्वर्गीय महाराज मरते समय तुम दोनों भाई-बहनों को मेरी गोद मे छोड़ गये थे। बहन तो चार दिन बाद अपनी सुसराल चली गई। मैंने सोचा था, कुमारसेन को अपनी गोद से एकदम सिंहासन पर बिठा दूँगा। किन्तु कुमार के चाचा साहब सिंहासन छोड़ना ही नहीं चाहते। कितनी ही बार शुभ मुहूर्त्त टल गया। आज-कल करके इन्होंने अनेक बार टाल दिया। कितने ही हीले-बहाने करते हैं!

(दो सैनिकों का प्रवेश)

एक सै०—हमारे युवराज कब राजा होंगे' भाई? उस दिन मैं तुम सब लोगों को महुआ खिलाऊँगा।

दूसरा—अरें तू तो महुआ खिलाएगा—मैं जान दूँगा।

मैं लड़ाई करता फिरूँगा—मैं पाँच गाँव लूट लाऊँगा। मैं अपने महाजन साले का सिर तोड़ दूँगा। मैं अपने मालिक युवराज के आगे खड़े-खड़े ही ख़ुशी के मारे मर जाऊँगा।

पहला—यह क्या मैं नहीं कर सकता? मरने की बात क्या कह रहा है। अगर मेरी उमर सवा सौ साल की हो तो मैं नित्य सबेरे और शाम युवराज के लिए जान दे सकता हूँ!

दूसरा—अरे युवराज तो हमारे ही हैं! स्वर्गीय महाराज कुँवर को हमें ही सौंप गये हैं। हम लोग उन्हें कन्धे पर चढ़ाकर ढोल-नगाड़े बजाकर राजा बना देंगे। हम किसी से न डरेंगे।

पहला—हम कुँवर के चाचा महाराज से जाकर कहेंगे कि तुम सिंहासन से उतर पड़ो—हम राजकुँवर को सिंहासन पर बिठाकर आनन्द मनाना चाहते हैं।

दूसरा—तूने सुना है, अब की पूनों को युवराज का ब्याह है।

पहला—यह तो पाँच साल से सुन रहा हूँ।

दूसरा—अबकी पाँच साल पूरे हो गये। त्रिचूड़ के राज-घराने में यह पुरानी चाल है कि वर को पाँच साल कन्या को प्रसन्न करने में बिताने पड़ते हैं। उसके बाद कन्या के राज़ी होने पर ब्याह होता है।

पहला—वाह! यह कैसी चाल है? हम क्षत्रिय हैं। हम लोगों के यहाँ सदा से यही चली आती है कि ससुर के गाल में थप्पड़ मारकर स्त्री के झोंटे पकड़कर हम लोग उसे

ले आते हैं। दो घण्टे में सब साफ़ हो जाता है। उसके बाद हम ब्याह करने की फ़ुरसत मिल जाती है!

दूसरा—जोधमल, भला उस दिन तुम क्या करोगे?

पहला—मैं भी उस दिन और एक ब्याह कर डालूँगा।

दूसरा—शाबास, ठीक कहा भाई।

पहला—अर्जुनसिंह की लड़की है? देखने-सुनने में बहुत अच्छी है। इतनी-इतनी बड़ी आँखें हैं। उस दिन वितस्ता में पानी भरने आई थी। मैंने देखा, उसकी आँखों में मोहनी है। चटपट वहाँ से गाता हुआ खिसका।

दूसरा—क्या गाया था?

पहला—सुनोगे? सुनो—

गान (कजली)

(धुन—घुँघट में गोरिया मारे सान)

करत बरजोरी तेरे नैन।

घायल करत, तानि हिय मारत पैने सर से सैन॥ करत०॥
मन हरि लेत दूर से देखत, चलत कछू बस है न॥ करत०॥
ज्ञान सयान छीनि छिन ही में करि डारत बेचैन॥ करत०॥

दूसरा—शाबास भैया!

पहला—वह देखो, शङ्कर दादा बैठे हैं! युवराज यहाँ नहीं हैं—तब भी बूढ़ा दरवाज़े पर सज-धजकर बैठा हुआ है। पृथ्वी चाहे उलट-पुलट हो जाय, मगर बूढे का नियम नहीं टल सकता।

दूसरा—आओ भाई, इससे युवराज की दो-एक बातें पूछें।

पहला—पूछने से वह जवाब ही नहीं देता। भरत के राज्य में रामचन्द्र की खड़ाउँओं की तरह पड़ा रहता है—मुँह से बोलता तक नहीं।

दूसरा—(शङ्कर के पास जाकर) हाँ दादा, बताओ, युवराज कब राजा होंगे ?

शङ्कर—तुम लोगों को इससे क्या मतलब ?

पहला—नहीं नहीं, हम यह कहते हैं कि युवराज तो अब सयाने हुए—बूढ़े राजा सिंहासन से उतरते क्यों नहीं?

शङ्कर—इसमें बुराई क्या है ? हज़ार हो, वे चाचा हैं।

दूसरा—सो तो ठीक है। किन्तु हमारे देश की रीति तो यह है—

शङ्कर—रीति को तुम लोग मानो, हम लोग मानें, बड़े लोगों के लिए रीति क्या है ? अगर सभी नियम को मानेंगे तो नियम को बनाएगा कौन ?

पहला सै०—अच्छा दादा, यह मैंने मान लिया—किन्तु यह तो बताओ, पाँच साल तक ब्याह के लिए स्त्री के आगे नाक रगड़ना कैसा नियम है ? मैं तो कहता हूँ, ब्याह करना तीर खाने के समान है; चटपट तीर लग गया और जन्म भर के लिए बिंधा रहा। चिन्ता नहीं रह गई। किन्तु दादा! पाँच साल तक आराधना कैसी ?

शङ्कर—क्या इसी लिए किसी देश का नियम उलट जायगा कि तुम लोगों को वह आश्चर्यजनक जान पड़ता है, नियम को

तो कोई छोड़ नहीं सकता। यह संसार नियम पर ही चल रहा है। जाओ-जाओ, बकबक न करो। ये बातें तुम लोगों के मुँह को नहीं सोहतीं।

पहला—अच्छा जाता हूँ दादा। आजकल हमारे दादा का मिज़ाज अच्छा नहीं है। एकदम सूखकर खड़खड़ करने लगा है।

(प्रस्थान)

(पुरुषवेशी सुमित्रा का प्रवेश)

सुमि०—तुम्हीं क्या शङ्कर दादा हो?

शंकर—तुम कौन हो? पुराने परिचित स्नेहपूर्ण स्वर में मुझको पुकारनेवाले तुम कौन हो? बटोही, बोलो, तुम कौन हो?

सुमि०—मैं विदेश से आया हूँ।

शङ्कर—यह क्या मैं स्वप्न देख रहा हूँ? किसी मन्त्र के बल से क्या मेरा कुमार बालक बनकर मेरे पास आया है? मानो वही पहले की तरह सन्ध्या को खेल से थककर आया है!-पैरों में धूल भरी है, चेहरा उतरा हुआ है। थका हुआ बालक-हृदय मानो शङ्कर की गोद में विश्राम माँग रहा है।

सुमि०—मैं जालन्धर से समाचार लेकर कुमार के पास आया हूँ।

शङ्कर—कुमार का बचपन रूप धरकर आप ही कुमार के पास आया है। छोटी बहन ने बचपन की याद दिलाने के

लिए उसे भेजा है! दूत, तुमने यह स्वरूप कहाँ पाया? मैं बेकार बकबक कर रहा हूँ। मुझे क्षमा करो। कहो, कहो, क्या खबर है? मेरी रानी बेटी अच्छी है? सुख से है? पति के आदर और रानी के गौरव को पाकर प्रसन्न है? सुखी प्रजा उन्हें माता कहकर आशीर्वाद देती है? राजलक्ष्मी अन्न-पूर्णा बनकर वह राज्य में कल्याण की वर्षा करती है? धिक्कार है मेरी बुद्धि को! पहले तुमसे कुशल-प्रश्न ही करने लगा। तुम राह चलने से थक गये हो। चलो, मेरे घर में चलो। विश्राम करने के उपरान्त धीरे-धीरे एक-एक करके सब समाचार कहना। घर चलो।

सुमि०—शङ्कर, क्या अभी तक तुमको रानी की याद बनी है?

शङ्कर—वही कण्ठ का स्वर है! वही स्नेह के भार से झुकी हुई गम्भीर दृष्टि है! यह क्या माया-मरीचिका है? क्या तुम मेरी सुमित्रा की छाया को चुरा लाये हो? तुम शायद मेरे हृदय से निकलकर मुझे छलने आई उसकी अतीतस्मृति हो। हे युवक! मैं बूढ़ा हूँ; इस बकबक के लिए मैं तुमसे क्षमा चाहता हूँ! बहुत दिनों से चुप था,—आज न जाने कितनी बातें हृदय से आप ही आप निकलती चली आ रही हैं, आँखों में आँसू भरे आते हैं! नहीं जानता, क्यों इतना स्नेह उमड़ा पड़ता है तुम्हारे ऊपर! मानो तुम मेरे चिरपरिचित हो! मानो तुम मेरे चिरजीवन के आनन्द

दूसरा दृश्य

त्रिचूड़—क्रीड़ा-कानन

कुमारसेन, इला और सखियाँ

इला —जाना होगा? किस कारण? युवराजजी!
इला न अच्छी लगे दो घड़ी से अधिक!
छिः छिः चञ्चल हृदय तुम्हारा।

कुमा०— सब प्रजा—

इला —मुझसे भी क्या अधिक, तुम्हे देखे बिना
व्याकुल होती प्रजा? राज्य में जब चले
जाते हो तुम, जान पड़े, मैं हूँ नहीं।
जब तक मेरी याद बनी रहती तुम्हें
तब तक मैं हूँ; और अकेली कुछ नहीं!
कितने ही हैं लोग आपके राज्य में—
कितनी चिन्ता, कामों की भरमार है—
बहुत राजसी ठाटबाट पीछे लगे—
सब कुछ है, यह क्षुद्र इला केवल नहीं!

कुमा०—सब है, तब भी वहाँ कुछ नहीं है प्रिये,
और न होने पर भी तुम हो प्रियतमे!

इला —झूठी बातें बोलो नहीं कुमारजी!
तुम हो राजा, जहाँ तुम्हारा राज्य है;
इस वन में मैं रानी हूँ, तुम हो प्रजा!
जाओगे तुम कहाँ? तुम्हें जाने नहीं

दूँगी। सखियों, इन्हें बाँध दो फूल की
माला से; फिर नाचो गाओ, हो ख़ुशी;
दूर हटा दो सारी चिन्ता राज्य की।

सखियों का गान

कहाँ वह सीखी चाल नई।

जो आवत तो जान चहत क्यों, हूँ निरदई दई!
आँखिन ओट होत दरसन है, चूक कौनसी भई?
मेल बढ़ाय खेल जनि हनिए, कोमल नारि नई।

कुमा०—प्यारी, क्या कर दिया मुझे?

इला — जादू किया!

कुमा०—सचमुच तूने मुझे लीन ही कर लिया।
जीवन, तन, मन, नयन, वचन तेरे हुए।
मैं अपना अस्तित्व मिटाकर चित्त से
मानो हूँगा लीन तुझी में हे प्रिये!
होकर सुख का स्वप्न तुम्हारी दृष्टि में
मिला रहूँगा—लगा रहूँगा ओठ से
बनकर मृदु मुसकान—ललित लावण्य सा
लिपट रहूँगा विमल बाहुओं बीच मैं—
व्याप्त रहूँगा इष्ट-मिलन-सुख के सदृश
स्वच्छ हृदय में।

इला — फिर उसके उपरान्त यह
छुट जावेगा मोह स्वप्न का, आपको

होगा अपना चेत, और मैं भूमि मे
पड़ी रहूँगी चुपके टूटी बीन सी—
गुनगुन करते आप अनमने भाव से
चले जायँगे। नहीं, नहीं, सुनिए, सखा !
स्वप्न नहीं है, मोह नहीं है यह कभी।
जीवन, लोचन, हृदय, भुजाओं का मिलन—
बन्धन—होगा कभी ?

कुमा०— देर इसमें नहीं।
आज सप्तमी, अर्धचन्द्र यह पूर्ण हो
देखेगा सम्पूर्ण हमारा वह मिलन।
क्षीण विरह की बाधा रखकर बीच मे
कम्पित आग्रहपूर्ण मिलन सुख का, प्रिये,
आज अन्त हो गया। निकटता दूर की।
और दूरता निकट रहे की मिट गई।
सहसा होना भेंट और विस्मय बड़ा,
सहसा मिलना और अचानक, प्रियतमे,
विरह-व्यथा का होना—वन के मार्ग से
धीरे-धीरे सूने घर को लौटना—
सुखस्मृति लेकर साथ स्मरण करना वहाँ
बातों को सौ बार—मिटा सब आज से।
प्रथममिलन के समय, प्रिये, हरबार वह
लज्जा, रहना मौन, और हरबार ही

आँसू गिरना बिदा-समय का—अब गया!

इला—ऐसा ही हो! ऐसी सुख की छाँह से
सुख अच्छा है, दुःख मिले, वह भी भला।
मृगतृष्णा से तृष्णा ही होती भली।
पाऊँगी मैं तुम्हें, मिलोगे तुम नहीं,—
दुबधा मन में रहे; सोचती हूँ कभी
निकल न जाओ नाथ, फँसाकर, हाथ से।
कभी अकेले बैठे-बैठे सोचती—
प्यारे, तुम हो कहाँ और क्या कर रहे?
विकल कल्पना इस जङ्गल के छोर से
फिर आती है। वन के बाहर मैं तुम्हे
नहीं जानती, नहीं मिले इससे पता।
अब तो मैं सब जगह रहूँगी साथ ही;
कुछ न रहेगा कहीं अपरिचित आपका।
नाथ, कहो, क्या हाथ न आना चाहते?

कुमा०—जान-बूझकर पड़ा तुम्हारे हाथ हूँ—
फिर यह बन्धनपाश किसलिए है प्रिये?
क्या न मिला? किसका अभाव है? कुछ कहो।

इला—बहन सुमित्रा की बातें जब तुम करो
तब होती है व्यथा हृदय में सोच यह—
उसने मुझसे चुरा लड़कपन आपका
रक्खा अपने पास। सोचती हूँ कभी

बाल्यसहचरी वह जो आवे फिर यहाँ,
सुखशैशव के उसी मनोहर राज्य में
तुम्हें बुला ले, तो तुम उसके हो वहाँ!
मेरा है अधिकार वहाँ पर कुछ नहीं!
बीच-बीच में प्यारे, यह जी चाहता—
बहन सुमित्रा कैसी हैं, देखूँ ज़रा।

कुमा०—वह जो आती कहीं यहाँ पर, आज तो
मुख पर चढ़ता रङ्ग सौ गुना प्रियतमे।
उत्सव की आनन्द-किरण बनकर, अहो,
पितृभवन में—शैशवगृह में—सोहती।
गहनों से वह तुम्हें सजाकर, प्रेम से
गले लगाती; फिर छिपकर हँसती हुई
मिलन देखती। किन्तु हमारी क्या उसे
आती होगी याद? पराये घर गई
हुई पराई! उसका ही है दोष क्या?

इला का गान

ग़ज़ल सोहनी

ये करें ग़ैरों को अपना, ग़ैर अपने को बना।
और का दुख दूर करते, आप दुख सहते घना॥
सुन के बाहर तान बंशी की चलें बस उस तरफ़,
छोड़कर घरबार सारा, देखना पागलपना॥
सुख हो अथवा दुःख हो, ये प्यार करते हैं सदा।
हँसते-हँसते ही किया करते व्यथा का सामना॥

कुमा०—दु:ख-गान किसलिए ? करुण स्वर क्यों हुआ ?
क्यों उदास है दृष्टि ? हुआ क्या प्रियतमे ?

इला—दु:खगान यह नहीं; बहुत गम्भीर जो
सुख होगा, वह दु:ख सदृश ही सर्वथा
जान पड़ेगा उदासीन औदार्य से।
स्त्री का सुख है, सुख दुख सब कुछ छोड़कर
करना आत्मत्याग'

कुमा०— धन्य प्राणेश्वरी !
पाकर ऐसा प्रेम तुम्हारा, विश्व को
वशीभूत कर रक्खूँगा; आनन्द से
जीवन मेरा विश्व बीच उच्छ्वसित हो !
शान्ति न जिसमें ऐसा सुमधुर कर्म-सुख
चाहे, दौड़ उसी ओर मेरा हृदय,
कीर्ति कमाकर चिरस्थायिनी मैं, प्रिये,
तुमको उसकी अधीश्वरी देवी बना
रक्खूँगा। इस तरह, अकेले, सुन्दरी,
भोग न सकता हूँ इस प्रेमानन्द को
अलस पुरुष की तरह।

इला— नाथ, वह देखिए,
उपत्यका से मेघ घने होकर उठे,
पर्वत का वह शिखर घेरते जा रहे;
विश्व-सृष्टि के अतिविचित्र इस अंश को

कर लेंगे ज्यों लीन पीन निज अङ्ग में।

कुमा०—देखो दक्षिण ओर; अस्त होते हुए
रवि की आभा से, सुवर्ण-सागर-सदृश
समतल पृथ्वी चली गई है दूर तक
किसी लापता दुनिया को ज्यों प्रियतमे!
अन्नखेत, वन-वृक्ष, नदी, बस्ती, सभी
देख पड़ें अस्पष्ट—जिस तरह स्वर्ण के
चित्रफलक में, तरह-तरह के रङ्ग हों
भरे गये हैं; रेखाएँ फूटी नहीं।
आकांक्षा या मेरी बहुविस्तृत हुई,
लिये हृदय में खिंचा सुनहले रङ्ग से
छाया-चित्र विशाल कल्पना का, चली
छोड़ पहाड़ी-घाटी पृथ्वी की तरफ़।
कितने ही नव दृश्य देश होंगे वहाँ,
कितनी ही नवकीर्ति और कितनी नई
रङ्गभूमि भी होंगी!

इला।— प्यारे, मेघ वह
रख अनन्त की मूर्ति, आ रहा है, हमे
ग्रस लेने को! नाथ, निकट आओ! कहीं
हम तुम दोनों इसी मेघ में सर्वदा
लुप्त विश्व के बीच रहा करते! सुखी
होते! होता महामेघ का घोसला

दो पक्षों हम रहते उसमें। तुम वहाँ
रह सकते क्या? मेघ-आवरण तोड़कर
पृथ्वी का आह्वान पहुँचता कान में;
मुझे छोड़कर प्रलय बीच, तुम बस घड़ी
चल देते! क्यों नाथ?

(दासी का प्रवेश)

दासी— गुप्त सवाद ले
जालन्धर से दूत एक कश्मीर में
आया है!

कुमा०— तो अब जाना ही चाहिए।
जाता हूँ प्रियतमे, पूर्णिमा को यहाँ
फिर आऊँगा, ले जाऊँगा साथ ही
नित्य पूर्णिमा अपने हृदयाकाश की।
हृदय-देवता हो, पर अब शीघ्र ही
गृहलक्ष्मी हो मुझे मिलोगी।

इला— जाइए।
पकड़ रख सकूँ तुम्हें अकेली किस तरह?
हाय, क्षुद्र मैं कितनी—कितनी क्षुद्र हूँ!
कैसा विस्तृत बड़ा विश्व-ब्रह्माण्ड है—
कैसा है उद्दाम तुम्हारा हृदय भी!
जानेगा, प्रिय, कौन विरह की वेदना!"

कौन गिनेगा आँसू मेरे दुःख के!
किसको होगा स्मरण—विजन वन प्रान्त मे
एक बालिका शून्य हृदय अपना लिये
सहती है चुपचाप भयानक यन्त्रणा!

तीसरा दृश्य

कश्मीर—युवराज का महल

कुमारसेन और मर्दाने लिबास में सुमित्रा

कुमा०—अपने मन का भाव, बहन, मैं किस तरह
तुम्हें दिखाऊँ? मुझको कल पड़ती नहीं।
जाना चाहूँ अभी सैन्य सब साथ ले,
करना चाहूँ दुष्ट दस्युदल का दमन,
मेटा चाहूँ जन्मभूमि कश्मीर का
यह कलङ्क। पर आज्ञा ही मिलती नहीं
चाचा जी की। इस बनावटी वेष को
दूर करो अब बहन! चलो, हम तुम चलें,
राजा के चरणों में गिरकर सब कहें।

सुमि०—भाई, यह क्या बात? तुम्हारे पास मैं
आई हूँ निज व्यथा जताने के लिए—
तुम भाई, मैं बहन, इसी सम्बन्ध से।
जालन्धर की रानी भिक्षुकरूप से
भीख माँगने आई क्या कश्मीर में?

छिपकर रहना छद्मवेश में अब यहाँ।
है असह्य। हा इतने दिन के बाद मैं
जन्मभूमि में छिपकर आई, इस तरह!
कई बार शङ्कर को देख उमङ्ग के
अश्रुभार से भर आया मेरा गला।
कई बार जी चाहा, रोकर यों कहूँ—
"शङ्कर, शङ्कर, वही तुम्हारी लाड़ली
खड़ी सुमित्रा; आई तुमको देखने"
हाय वृद्ध, जब विदा हुई थी तब यहाँ
रोई थी जी खोल; आज वह भी नहीं।
कन्या केवल नहीं आज कश्मीर की,
जालन्धर की रानी हूँ मैं!

कुमा०— ठीक है.
समझ गया मैं बहन! कार्य की सिद्धि का
कोई और उपाय निकालेंगे, चलो।

चौथा दृश्य

कश्मीर का महल—अन्तःपुर

रेवती और चन्द्रसेन

रेव० —जाने दो—क्या महाराज तुम सोचते?
क्यों चिन्ता कर रहे? युद्ध में जाय तो,
लौटेगा फिर नहीं, मुझे निश्चय यही।

चन्द्र०—धीरे, रानी, धीरे!

रेव० — बिल्ली ताक में

बैठी थी अपने शिकार के, आज तो

आया अवसर, चोट करेगी क्या नहीं?

चन्द्र०—क्या कहती हो रानी, किसकी ताक में,

कौन कहाँ बैठा था?

रेव०— छी-छी इस तरह

छिपते हो? चालाकी मुझसे? किसलिए?

किस विचार से ब्याह किया न कुमार का

अब तक? बोलो? क्यों तुम राज़ी हो गये

नीच प्रथा पर, जो त्रिचूड़-नृप ने कही—

पाँच वर्ष तक कन्या की आराधना

बर कर ले, फिर उन दोनों का ब्याह हो।

चन्द्र०—चुप-चुप रानी, कौन जानता है भला

किसका क्या है अभिप्राय?

रेव०— तो देख लो,

खूब समझ लो; जो कुछ करना चाहते

उसको अच्छी तरह सोच लो—जाँच लो।

अपने ही से तुम अपने उद्देश्य को

छिपा न रक्खो। देखो, लक्ष्य अलक्ष्य है।

अवसर पाओ, अपने हाथों ताक कर

तीर चलाओ ठीक निशाने पर। सुनो,

जमा हो रहा कुविचारों का पाप है;
क्यों प्रसिद्धि का क्लेश और उस पर सहो ?
रण में भेजो अब कुमार को।

चन्द्र०— प्रियतमे,
बाहर है उत्पात अभी कश्मीर का,
अन्य राज्य में वह अपना विष क्षय करे,
फिर तुम उसको यहाँ बुलाना चाहतीं ?

रेव०—समय बहुत है यह विचारने के लिए,
अभी भेज दो बस कुमार को युद्ध में।
उत्कण्ठित है प्रजा, देखना चाहती
जल्दी से अभिषेक कुँवर का। इस तरह
कोई भी कुछ कह सकता तुमको नहीं।
सोचा करना फिर, इतने अवकाश में
क्या हो सकता है।

(कुमार का प्रवेश)

रेव०— सुत, जाओ युद्ध में;
आज्ञा चाचा की है ऐसी ही तुम्हें।
देर करो मत, मौक़ा जाने दो नहीं।
फिर विवाह का उत्सव होगा धूम से।
चढ़ी जवानी के इस बढ़ते तेज को
क्षय न करो यों घर बैठे आलस्य में।

कुमा०—जय हो, जय हो, जननी, जय हो आपकी
बड़ी हुई मुझको प्रसन्नता इस घड़ी।
अपने मुख से मुझको आज्ञा दीजिए,
चाचा जो!

चन्द्र०— तो बेटा, जाओ युद्ध में।
देखो, रहना सावधान। अतिगर्व से
जान-बूझकर आफ़त में पड़ना नहीं।
जय पाओ तुम, एक बाल बाँका न हो;
गद्दी पर आकर बैठो निज बाप की!
मेरा आशिर्वाद यही तुमको सदा।

कुमा०—जननी, तुम भी मुझको आशिर्वाद दो!

रेव० —क्या होगा इस मिथ्या आशिर्वाद से!
अपनी रक्षा करती अपनी ही भुजा!

पाँचवाँ दृश्य

त्रिचूड़—क्रीड़ा-कानन

इला की सखियाँ

१ सखी—कहाँ-कहाँ रोशनी करोगी बहन?

२ सखी—मैं रोशनी के बारे में नहीं सोचती। रोशनी तो केवल एक रात होगी। मैं यही सोच रही हूँ कि कुमार की वंशी अभी तक क्यों नहीं बजी? वंशी बजे बिना सब उत्सव फीका है!

३ सखी—वंशी कश्मीर में है। आती ही होगी। इसके बिना चैन नहीं। कब बजेगी?

१ सखी—बजेगी, सखी बजेगी। मेरे भाग्य में भी एक दिन बजेगी!

२ सखी—वाह रे तुम्हारी बातें! कहाँ की कहाँ लगाती हो! मैं क्या इसी सोच में सूख रही हूँ?

पहली सखी का गान

गजल

बजेगी, ए सखी, वंशी बजेगी।
भजेगी, प्राणपति को तू भजेगी॥
विराजेगा हृदय में भाग्यशाली,
हृदय-रञ्जन, हमें तब तू तजेगी॥
अरी आनन्द के आँसू बहेंगे।
सुखी हो साज दुलहिन का सजेगी॥
उसी धुन मे मिलाकर राग अपना,
बजेगी, यह हृदयतन्त्री बजेगी॥

२ सखी—तू अपना गाना रहने दे! बार-बार हृदय जैसे धड़क उठता है। जान पड़ता है, केवल एक रात को रोशनी, हँसी-ख़ुशी, वंशी और गाने-बजाने की धूम हो जायगी। उसके बाद सर्वत्र अन्धकार छा जायगा!

१ सखी—रोने के लिए समय बहुत है बहन। इन दो-चार दिनों में तो हँसी-ख़ुशी मना ले। फूल अगर सूख

न आते तो मैं आज से ही कुमार को ब्याह के दिन पहनाने की माला गूँथने लगती।

२ सखी—मैं कुमार का शृङ्गार करूँगी।

१ सखी—मैं अपनी सखी का शृङ्गार करूँगी।

३ सखी—और मैं क्या करूँगी?

१ सखी—वाह, तू अपना शृङ्गार करना। देख, शायद युवराज को रिझा सके।

३ सखी—तू तो बहन इसकी भी चेष्टा करके देख चुकी है। सो भई, जब तेरे किये कुछ नहीं हुआ तब मैं क्या कर सकूँगी? बात तो यह है कि जो हमारी सखी को देख चुका है वह इस तरह राह चलते किसी पर रीझ नहीं सकता।—वह सुनो, वंशी आ गई—बज रही है।

पहली सखी का गान

बाजि रही वंशी वह सजनी, वन में या मन में?
राजि रही सुन्दर सुख रजनी, वन में या मन में?
कहाँ चले यह वायुबसन्ती, शीतल और सुगन्धित;
कहाँ खिले ये फूल मनोहर, वन में या मन में?
जायँ न जायँ वृथा यह दुबधा, को जाने, वह विरही
कर अभिसार कहाँ आता है, वन में या मन में?

२ सखी—अरी चुप रह—वह देख, कुमार आ रहे हैं।

३ सखी—चलो चलो बहन, हम लोग आड़ में चलें। तुम लोग तो जाती हो, लेकिन क्या जाने बहन, युवराज के सामने आने में मेरा हृदय क्यों उछलने लगता है!

२ सखी—भला बहन, युवराज आज हो कैसे आ गये ?

१ सखी—आना तो था ही, कुछ दिन पहले ही आ गये। हमारी सखी के बिना उनको ही कब चैन पड़ता है ? राजकुमार हैं तो क्या कामदेव उनसे दब जायगा ?

३ सखी—चलो माई आड़ में चलें ।

(गमन)

(कुमारसेन और इला का प्रवेश)

इला—रहने दो नाथ, मुझसे और अधिक न कहो । काम है, राज्य छोड़कर जाना होगा, इसी से कुछ दिन तक व्याह रुका रहेगा, इससे अधिक और क्या सुनूँगी ?

कुमा०—मुझ पर सदा ऐसा ही विश्वास रखना । मन से हो मन पहचाना जाता है : गहरा विश्वास नीरव हृदय की बात को खींच लाता है ! इस उपवन में, इस झील के किनारे, इसी लताकुञ्ज में, इसी सन्ध्या के प्रकाश में, पश्चिम आकाश के छोर पर इसी सन्ध्यातारे को ताकती हुई इस प्रवासी को स्मरण करना । समझना कि मैं भी इसी समय परदेश में पेड़ के नीचे अकेला बैठा हुआ इसी तारे में तुम्हारी आँखों का तारा देख रहा हूँ । समझना कि इस नील आकाश में पुष्प की सुगन्ध के समान तुम्हारा और मेरा प्रेम व्याप्त हो रहा है—दोनों की विरह-रात्रि में एक ही चन्द्रमा उदय हुआ है !

इला—जानती हूँ, जानती हूँ, नाथ, मैं तुम्हारे हृदय को जानती हूँ!

कुमा०—तो जाता हूँ प्रियतमे! हृदयसर्वस्व! जीवनेश्वरी!

(प्रस्थान)

(सखियों का प्रवेश)

२ सखी—हाय, यह क्या सुना?

३ सखी—सखी, क्यों जाने दिया?

१ सखी—अच्छा ही किया। अपनी इच्छा से न छोड़ देने से बन्धन तोड़कर सदा के लिए मनुष्य चला जाता है। हाय सखी, हाय, अन्त को क्या उत्सव का दीपक बुझाना पड़ा?

इला—सखियो, तुम चुप रहो, मेरा हृदय टूट गया! उस दीपमालिका को बुझा दो! बताओ, सखियो, लज्जा-हीन पूर्णिमा के प्रकाश को कौन बुझावेगा? क्यों आज यह जान पड़ता है कि मेरे इस जीवन का सुख दिन के साथ ही पश्चिम में डूब गया? हाय, वह अस्त होने की राह मे अपनी इला को छाया की तरह साथ ही क्यों न ले गया?

चौथा अङ्क

पहला दृश्य

जालन्धर—युद्धभूमि—सेना की छावनी

विक्रमदेव और सेनापति

सेना०—शिलादित्य के साथ उदय भास्कर हुआ
कैद; युधाजित भाग गया, स्वामी, कहाँ—
सेना लेकर साथ।

विक्र०— चलो फिर शीघ्र ही
उसके पीछे; अभी उठा दो छावनी!
व्यग्रभाव से उग्रभाव से की गई
मानव-मृगया यह मुझको अच्छी लगी!
एक गाँव से और गाँव में, वन-नदी
और पहाड़ों में भी घुमकर घूमकर
दिनोंरात यह कौशल की क्रीड़ा भली।
—बाक़ी अब है कौन और विद्रोह का
करनेवाला ?

सेना०— बस केवल जयसेन है।
सेना सबसे अधिक उसी के साथ है।

विक्र०—सेनापति, तो चलो उसी को ढूँढ़ने।
हृदय हृदय का, बाहु-बाहु का, तीव्रतम

प्रेमालिङ्गन-तुल्य उग्र संग्राम ही
मैं चाहूँ। यह हलके हाथों से हुआ
समर सुहाता नहीं—क्षुद्र रण, क्षुद्र जय!

सेना०—ख़बर मिली थी, सहसा सेना शत्रु की
गुप्तरूप से आकर, पीछे से, प्रभो,
हम पर हमला करनेवाली है। मगर
जान पड़े, डर गया शत्रु आपत्ति के
भय से, अब प्रस्ताव करेगा सन्धि का।

विक्र०—धिक् है उसको! वह कायर, डरपोक है!
सन्धि नहीं, संग्राम! रक्त से रक्त के
मिलने का उन्माद! शस्त्र से शस्त्र का
बजना! लेकर सैन्य चलो, पीछा करो।

सेना०—जो आज्ञा! (प्रस्थान)

विक्र०— यह कैसी अच्छी युक्ति है!
यह कैसा है परित्राण! आनन्द की
यह उमङ्ग कैसी है मेरे हृदय में!
अबला के कमज़ोर हाथ अब तक मुझे
बन्दर ऐसा नचा रहे थे गेह में—
यह प्रचण्ड सुख मिलने देते थे नहीं!
मेरा यह उद्दाम हृदय क्रमशः घनी
अन्धकारमय गम्भीरता की खोज में
चला जा रहा था मानो पाताल को!

छुटकारा हो गया! मुक्ति मुझको मिली!
भाग गई है आप शृङ्खला, छोड़कर
क़ैदी को! इस विश्व बीच अब तक, अहो,
कितने ही रण हुए, सन्धि कितनी हुईं,
कीर्ति कमा ली कितनी लोगों ने यहाँ।
अन्तःपुर में पड़ा हुआ था मैं, यथा
बंद कली में चंपे की हो सो रहा
कोई कीड़ा! कहाँ लोकलज्जा, कहाँ
वीर पराक्रम चला गया था! था कहाँ
यह बहुविस्तृत विश्व! आज मुझको भला
स्त्रीजित, कायर, कौन कहेगा! मंद मृदु
पवनवेग से आज बना तूफ़ान की
हवा। प्रबल यह हिंसा अच्छी है मुझे,
क्षुद्र प्रेम से। प्रलय चरम आनन्द है
विधना का। यह हिंसा ही है हृदय के
छुटकारे का सुख! हिंसा ही जानना!
हिंसा ही स्वातन्त्र्य!

(सेनापति का प्रवेश)

सेना० — सैन्य ले आ रहा
विद्रोही।

विक्र० — तो चलो।

(गुप्तचर का प्रवेश)

गुप्तचर— शिविर के पास ही
पहुँच गई है सारी सेना शत्रु की।
पर बाजे हैं नहीं, पताका भी नहीं,
और न तर्जन-गर्जन है कुछ युद्ध का।
जैसे आता क्षमाप्रार्थना के लिए
शत्रु।

विक्र०— क्षमा की बात सुनूँगा मैं नहीं।
अपने अपयश को पहले मैं रक्त से
धोऊँगा। बस चलो शत्रु के सामने;
सेनापति!

सेना०— मैं महाराज! तैयार हूँ।

(दूसरे गुप्तचर का प्रवेश)

२ चर—शिविका आई एक शिविर से शत्रु के,
शायद उसमें दूत आ रहा है यहाँ
लेकर के प्रस्ताव सन्धि का।

सेना०— तो प्रभो,
ठहर जाइए ज़रा, शत्रु का दूत क्या
कहता है; पहले सुन लेना चाहिए।

विक्र०—अच्छा, उसके बाद युद्ध।

(सैनिक का प्रवेश)

सैनि०— जयसेन को

और युधाजित को रानी जी क़ैदकर

लाई हैं, आई हैं सेवा में, प्रभो ।

विक्र०—क्या ? आया है कौन ?

सैनि०— महारानी स्वयं ।

विक्र०—रानी ! कैसी ? कौन महारानी ?

सैनि०— वही

हम लोगों की ।

विक्र०— पागल है ! क्या बक रहा ?

सेनापति तुम देखो जाकर, कौन है

आया मेरे पास ?

(सेनापति आदि का प्रस्थान)

विक्र०— महारानी यहाँ

कर लाई हैं क़ैद युधाजित आदि को !

सपना यह क्या देख रहा हूँ ! युद्ध की

भूमि नहीं है यह क्या ? यह क्या राज्य का

अन्तःपुर है ? इतने दिन तक युद्ध का

सपना क्या मैं देख रहा था ? आज फिर

सहसा जगकर देखूँगा रनिवास का

वही बाग़ क्या ? वही महारानी, वही

फूल-सेज, वे ही सुदीर्घ दिन अति अलस,
वे ही रातें बड़ी ? क़ैद ? किसको किया
क़ैद ? सुना क्या ? क्या सुनना था, क्या सुना
क्या करने को क़ैद मुझे आई यहाँ ?
दूत ! नहीं, सेनापति ! आया कौन है ?
किसको करके क़ैद ?

(सेनापति का प्रवेश)

सेना०— महारानी स्वयं
आई हैं, है साथ सैन्य कश्मीर की।
रानीजी के भाई भी हैं साथ ही।
मिला राह में विद्रोही जयसेन है,
और युधाजित भी, उनको बन्दी बना
लाई हैं, हैं खड़ी शिविर के द्वार पर
मिलने को।

विक्र०— मिलने को ! सेनापति अभी
भागो, भागो, चलो, चलो सब सैन्य ले
और कहीं क्या शत्रु नहीं है ? क्या कहीं
और नहीं विद्रोही है कोई बचा ?
मिलना ? किससे ? रमणी से साक्षात का
समय नहीं यह !

सेना०— महाराज—

बिक्र०— बस, चुप रहो।

मेरी आज्ञा सुनो, बन्द कर लो अभी
द्वार; शिविर में शिविका जा सकती नहीं।
कह दो।

सेना०— आज्ञा शिरोधार्य है देव की!

दूसरा दृश्य

देवदत्त का घर

देवदत्त और नारायणी

देव०—प्रिये, तो अनुमति दो—दास बिदा हो।

नारा०—तो जाओ न, मैं क्या तुमको पकड़े हुए हूँ?

देव०—इसी से तो—इसी से तो कहीं जाना नहीं होता—बिदा होने में भी सुख नहीं है। जो मैं कहता हूँ सो करो। यहाँ पर पछाड़ खाकर गिर पड़ो। कहो, हा हतास्मि, हा भगवति भवितव्यते! हा भगवन् मकरकेतन!

नारा०—बेकार बको नहीं! तुम्हें मेरे सिर की क़सम, सच कहो, कहाँ जाओगे?

देव०—राजा के पास।

नारा०—राजा तो लड़ाई करने गये हैं। तुम क्या युद्ध करोगे? द्रोणाचार्य हो गये हो?

देव०—तुम्हारे रहते मैं युद्ध करूँगा? ख़ैर, अब जाता हूँ।

नारा०—तब से यही एक बात कह रहे हो। सो जाओ न। किसने तुम्हें सिर की क़सम देकर रोक रक्खा है?

देव०—हाय मकरकेतन, यहाँ तुम्हारे पुष्पशर का काम नहीं है—एक-दम समूची शक्ति की सेल हने बिना मर्मस्थल तक चोट नहीं पहुँच सकती! मैं कहता हूँ, तन्वी! श्यामा! शिखरदशना! पक्वबिम्बाधरोष्ठी! आँखों से कुछ आँसू-वाँसू निकलेंगे या नहीं? जल्दी से आँसू-वाँसू निकाल डालो—मैं उठूँ।

नारा०—वाह रे अभाग। कौन दुःख ऐसा आ पड़ा है, जो मैं आँसू बहाऊँ? हाँ जी, तुम्हारे गये बिना क्या राजा का युद्ध चल नहीं सकता? तुम क्या महावीर धूम्र लोचन हो गये हो?

देव०—मेरे गये बिना राजा का युद्ध बन्द नहीं हो सकता। मन्त्री ने कई बार लिख भेजा है कि राज्य मिट्टी में मिला जाता है, किन्तु महाराज किसी तरह युद्ध छोड़ना नहीं चाहते। इधर विद्रोह भी बिलकुल थम गया है।

नारा०—विद्रोह ही जो थम गया तो फिर महाराज किससे युद्ध करने जायँगे?

देव०—महारानी के भाई कुमारसेन के साथ।

नारा०—वाह, यह क्या बात है! साले के साथ युद्ध? जान पड़ता है, राजा लोगों में इसी तरह दिल्लगी हुआ करती

है। हम लोग होते तो ज़रा काजल और सेंदुर लगा देते—सुई से बिछौने के साथ दावन सी देते। क्यों न?

देव०—यह दिल्लगी नहीं है। महारानी अपने भाई कुमारसेन की सहायता से जयसेन और युधाजित को युद्ध में कैद करके महाराज के पास ले आई थीं। महाराज ने उनको अपने डेरे के भीतर आने नहीं दिया।

नारा०—तुम कहते क्या हो! तुम अब तक गये क्यों नहीं? यह खबर सुनकर भी बैठे हुए हो? जाओ, जाओ, अभी जाओ। हमारी रानी सती लक्ष्मी हैं; उनका भी अपमान! राजा के शरीर में कलियुग समा गया है।

देव०—कैदी विद्रोहियों ने महाराज से कहा है कि "महाराज, हम आप ही की प्रजा हैं—हमसे अपराध बन पड़ा हो तो आप उसका दण्ड दीजिए। एक विदेशी ने आकर जो हमारा अपमान किया तो उससे आपका ही अपमान हुआ। इसके माने तो यह हुए कि आपमें अपने राज्य का शासन करने की क्षमता ही नहीं है। एक साधारण युद्ध, उसके लिए काश्मीर से सेना आई—इससे बढ़कर उपहास और क्या हो सकता है?" यह सुनकर महाराज आग हो उठे। उन्होंने दूत के मुख से कुमारसेन को बहुत कुछ बुरा-भला कहला भेजा। कुमारसेन भी उद्धतस्वभाव का नवयुवक ठहरा। वही कैसे सह लेता? जान पड़ता है, उसने भी इनके द्वारा कुछ कड़ी बातें कहला भेजी हैं।

नारा०—तो अच्छी बात है, कुमारसेन तो कोई ग़ैर नहीं है। अगर बातचीत चल रही है तो चलने दो। तुम अगर पास नहीं रहते तो क्या राजा को दो बातें भी नहीं सूझती हैं? बातचीत बन्द करके शस्त्र चलाने की क्या ज़रूरत है! इससे तो हमारे राजा की ही हार समझी जायगी! दिल्लगी में बातचीत बन्द करके लड़ने लगना हो तो हार जाने का लक्षण समझा जाता है।

देव०—असल बात यह है कि राजा ने युद्ध करने का यह एक बहाना निकाल लिया है। इस समय राजासाहब किसी तरह युद्ध को छोड़ना नहीं चाहते। युद्ध के लिए अनेक ढँग निकाला करते हैं। राजा के पास इस समय कोई ऐसा आदमी नहीं है कि जो उनको समझाने का साहस करे। मुझसे तो अब रहा नहीं जाता। मैं जाता हूँ।

नारा०—तुम्हारी इच्छा हो तो जाओ, किन्तु मैं अकेले तुम्हारी घर-गिरिस्ती का काम-काज न कर सकूँगी। यह कहे देती हूँ। यह लो, सब तुम्हारा पड़ा हुआ है। मैं किसी बैरागी की चेली होकर चली जाऊँगी।

देव०—ठहर जाओ, पहले मैं लौट आऊँ, फिर जाना। कहो तो मैं न जाऊँ।

नारा०—नहीं नहीं, तुम जाओ! मैं क्या तुमसे रहने के लिए कहती हूँ? तुम्हारे चले जाने से मैं एक-दम छाती फाड़-कर मर न जाऊँगी—इसके लिए चिन्ता न करो।

देव०—सो क्या मैं जानता नहीं? मलय-पवन तुम्हारा कुछ भी न कर सकेगा। विरह तो साधारण बात है, वज्र-पात से भी तुम्हारा कुछ बिगड़ नहीं सकता।

(जाने के लिए तैयार होता है)

नारा०—हे भगवन, राजा को सुमति दो!

देव०—यह घर छोड़कर कभी कहीं गया नहीं। हे भगवन्, इन सबके ऊपर तुम अपनी दृष्टि रखना।

(प्रस्थान)

तीसरा दृश्य

जालन्धर—कुमारसेन का डेरा

कुमारसेन और सुमित्रा

सुमि०—क्षमा करो राजा को; भाई, रोष जो
करना हो तो कर लो मुझ पर। बीच में
मैं जो होती नहीं, युद्ध में तो अभी
तुम दिखलाते बहादुरी—बल बाहु का!
ललकारा लड़ने को राजा ने तुम्हें
तो भी तुम चुप रहे बहन के स्नेह से।
मैं क्या जानूँ नहीं, सेल अपमान की
दो टुकड़े कर देती मानी का हृदय।*

उससे अच्छी मौत। अभागिन मैं बड़ी।
निज भाई के हृदय बीच अपमान का
भाला जैसे मारा अपने हाथ से
मैंने! भाई, इससे अच्छी मौत थी!

कुमा०—तुम तो जानो बहन, वीर का धर्म है
युद्ध, किन्तु है क्षमा कहीं उससे बड़ी—
लड़ने से वीरता क्षमा मे है अधिक।
तुच्छ समझता कौन तीव्र अपमान को
मानी नर के सिवा?

सुमि०— धन्य हो, धन्य हो
भाई तुम! यह जीवन अर्पण कर दिया
मैंने तुमको। ऋणी तुम्हारी यह बहन
चुका न सकती बदला ऐसे स्नेह का
तुम हो सच्चे वीर, धीर गम्भीर हो,
नर-समाज में नरपति तुम हो।

कुमा०— हूँ, बहन,
तेरा भाई! तू प्रसन्न जिसमे रहे
वही-मुझे करना है। चल प्यारी बहन,
उसी हमारे शैल-भवन में; हैं जहाँ
शुभ्र सुशीतल हिममण्डित गिरि के शिखर;
दो झरनों की तरह जहाँ भाई-बहन
हम दोनों ही प्रकट हुए—खेला किये;

अब क्या फिर फिर सको नहीं हम और तुम?
शैशव के उस उच्च शिखर पर?

सुमि०— हाँ चलो
जिस घर में हम दोनों प्रिय भाई बहन
खेला करते थे पहले आनन्द से,
उस घर में प्रेयसी सुन्दरी ब्याह कर
ले आओ। मैं उसे बिठाकर शाम को—
तुमको जैसा रुचे उसी ही ढङ्ग का—
कर दूँगी शृङ्गार; बता दूँगी उसे—
कौन फूल, क्या गान, कौन रस काव्य का
तुमको अच्छा लगे। सुनाऊँगी उसे
बाल्यावस्था की विचित्र बातें सभी—
बाल-हृदय का वह महत्त्व।

कुमा०— प्यारी बहन,
याद मुझे भी है पहला प्यारा समय।
हम दोनों थे बीन बजाना सीखते।
लगता था जी नहीं, ऊबकर भागता
था मैं। पर, तुम केश-वेशभूषा सभी
भूल, पलँग पर अपने बैठी शाम को
बीन बजाया-गाया करती थी सदा।

सुमि०—याद मुझे भी है; भाई तुम खेलकर
जब आते थे, मुझे सुनाते थे नई

अद्भुत कल्पित कथा-कहानी स्नेह से;
देखी थी अज्ञात नदी तुमने कहीं,
स्वर्ण-स्वर्गपुर उसके तट पर, और वह
कल्पवृक्ष का कुञ्ज अलौकिक; फल फलें
सुधा-मधुर जिस जगह, रत्न-दीपक जले।
विस्मित होकर सुनती थी, फिर स्वप्न में
किन्नर-कानन वही देखती थी।

कुमा०— स्वयं
वही कल्पना, कहते-कहते, अन्त को,
अपने ही को छलती थी। सच झूठ सब
होता एकाकार; यथा गिरि और घन।
पर्वत के उस पार स्वर्ग का दृश्य ही
खिच जाता था इन आँखों के सामने।
—शङ्कर आता है, देखो, लौटा हुआ.
समाचार क्या है, सुन लेना चाहिए।

(शङ्कर का प्रवेश)

शङ्कर—प्रभु तुम हो, तुम मेरे राजा हो, क्षमा
करो वृद्ध इस शङ्कर को। रानी, मुझे
तुम भी करना क्षमा। दूत के कार्य को
क्यों भेजा उस जगह मुझे? मैं वृद्ध हूँ;
सावधानता-सहित बोलने में, प्रभो,

निपुण नहीं मैं। मैं क्या, स्वामी, आपका
असम्मान सह सकता हूँ? जब शान्ति का
सुन मेरा प्रस्ताव, क्षुद्र जयसेन ने
ठट्ठा मारा; भृत्य युधाजित हँस पड़ा,
किया तीव्र उपहास, भौंह टेढ़ी किये
बोले विक्रमदेव घृणा से कटु वचन—
"बालक", "कायर" तुम्हें कहा—सुनकर मुझे
जान पड़ा, सब ओर सभासद हँस रहे—
एक एक को देख इशारे कर रहे—
द्वारपाल हँस रहा अलग ही द्वार पर,—
जो पीछे थे, उनकी वह चुपकी हँसी
जैसे डसने लगी पीठ को सर्प सी;
भूल गया तब शान्तिपूर्ण मृदुवाक्य वे
जो कहने को कहे आपने। क्रोध से
बोला मैं—"तुम लोग कलह को वीरता
समझो, क्षत्रिय वीर नहीं, स्त्री-जाति हो;
इसी खेद से मेरे राजा इस तरह
बन्द किये तरवार म्यान में, देश को
लौटे जाते थे।" जवाब सुनकर कड़ा
जालन्धरपति काँप उठे, अति कोप से
बोले, "हो तैयार सैन्य सब युद्ध को।"

सुमि०—प्यारे भाई, क्षमा करो।

शङ्कर— रानी, तुम्हें
यही उचित है क्या? हा हा, कश्मीर की
कन्या होकर तुम अपने कश्मीर का
सिर नीचा करना चाहो अपमान से?
अपने भाई को अपने कर्तव्य से—
वीर-धर्म से—विमुख मत करो। है यही
मेरी विनती!

सुमि०— बस शङ्कर, अब चुप रहो,
कहो न ऐसी बात! करो भाई क्षमा!
पैरों मे है पड़ी बहन—तुम क्रोध की
आग बुझाना चाहो रण मे रक्त से।
मैं हूँ आगे खड़ी, मार डालो मुझे!
भैया, क्यों चुप हुए? सुनो, कुछ भी कभी
मैंने माँगा नहीं, क्षमा-भिक्षा यही
तुमसे माँगू आज। न दोगे क्या?

शङ्कर— प्रभो!

कुमा०—वृद्ध चुप रहो, जाओ, कह दो सैन्य से—
अभी लौटना होगा अपने देश को।

शङ्कर—कैसा यह अपमान! हाय, होगी बड़ी
निन्दा! भग्गा भीरु कहेंगे लोग सब!

सुमि०—शङ्कर, मन मे तनिक स्मरण कर तो सही
बाल्यावस्था वही! स्नेह के पाश से

छोटे बच्चे हम दोनों भाई-बहन
बँधे हुए रहते थे तेरी गोद में।
उससे भी क्या अधिक कीर्त्ति-अपकीर्त्ति है?
चिरजीवन के लिए हृदय-सम्बन्ध यह
माता, पिता, विधाता की आशीष से
घिरा हुआ सुपवित्र स्नेह का तीर्थ है।
लाकर बाहर से हिंसा की आग को,
शङ्कर, इस कल्याण-भूमि को तू मलिन
अङ्गारों से करना चाहे।

शङ्कर— तो चलो,
मेरे मालिक, राजकुमारी, फिर चलें
उसी स्नेहपरिपूर्ण लड़कपन मे सभी।

चौथा दृश्य

विक्रमदेव का डेरा

विक्रमदेव, युधाजित और जयसेन

विक्र०—हुआ युद्ध से विमुख शत्रु जो भागकर
तो क्षत्रिय धर्मज्ञ उसे घेरे नहीं।

युधा०—भगा हुआ अपराधी जो यों सहज मे
बच जावे, तो राजदण्ड फिर व्यर्थ है।

विक्र०—बालक है वह, उसे दण्ड भी मिल गया।

यह यथेष्ट हो गया, हुआ अपमान यों,
फिर भागा भी।

युधा०— शैल-दुर्ग कश्मीर में
पड़ा रहेगा बाहर ही अपमान सब,
वहाँ वही वह पराक्रमी युवराज है!
कौन जानता, असम्मान युवराज का
हुआ इस तरह यहाँ ?

जय०— अभी चलिए चलें
अपराधी के घर मे, उस कश्मीर में।
शङ्कित और कलङ्कित कर कश्मीर को,
दोषी को दे दण्ड, यहाँ से लौटिए।

विक्र०—अच्छा योंही सही; चलो, रण को चलो।
जितनी चिन्ता करो और चिन्ता बढ़े।
कार्य-श्रोत मे कूद पड़ा हूँ, बह चला,
देखूँ, जाकर कहाँ किनारा प्राप्त हो।

(पहरेदार का प्रवेश)

पहरे०—महाराज से मिलने को आये, खड़े
राज-पुरोहित देवदत्तजी द्वार पर।

विक्र०—देवदत्त? ले आओ, ले आओ उन्हें।
नहीं, नहीं, ठहरो, ठहरो, सोचूँ ज़रा।
क्यों आया है ब्राह्मण? मैं जानूँ उसे

भली भाँति। वह आया है इस युद्ध से
लौटाने को मुझे। हाय, ब्राह्मण, तुम्ही
लोगों ने यह बाँध तोड़ डाला। भला
ऐसा यह उत्कट प्रवाह, बस अन्न के
खेतों को ही सींच, तुम्हारी देखकर
आवश्यकता, पालू प्राणी की तरह
लौट जायगा? कभी नहीं बस्ती सभी
चूरमार कर, गाँव उजाड़ेगा बसे।
बहु उपदेश, सलाह लिये देखा करो
तुम सब। मैं जा रहा कार्य के वेग से
अविश्राम गति का सुख पाने के लिए—
महानदी ज्यों चढ़ी हुई आनन्द से
पत्थर की भी रुकावटो को दूरकर
बड़े वेग से बहती रहती है सदा।
अन्धा होता है प्रचण्ड आनन्द। बस
दम-भर की ही होती उसकी आयु है।
इसी बीच में वह उन्माद लाता प्रबल
सुख अनन्त का। मतवाला गजराज ज्यों
लाल कमल को ले उखाड़। बस, ठीक है।
हुआ करेगा फिर विचार। चिरकाल तक
सिंहासन पर बैठ करूँगा मन्त्रणा।
ब्राह्मण से इस समय मिलूँगा मैं नहीं।

जय० —जो आज्ञा!

युधा० —(जयसेन के कान मे) ब्राह्मण को जानो शत्रु ही!

कैद कर रखो।

जय० — ख़ूब जानता हूँ उसे!

पाँचवाँ अङ्क

पहला दृश्य

कश्मीर—राजमहल

रेवती और चन्द्रसेन

रेव० —क्या रण की तैयारी? क्योंजी--किसलिए?
शत्रु कहाँ है? मित्र आ रहा! तुम उसे
सादर लाओ यहाँ बुलाकर! वह करे
गद्दी पर अधिकार! नाथ, कश्मीर का
राज्य बचाने मे तत्पर क्यों आप हैं?
यह क्या निज-सम्पत्ति तुम्हारी है? प्रथम
करने दो अधिकार उसे कश्मीर पर
मित्र-भाव से फिर ले लेना फेर कर।

चन्द्र०—चुप, चुप, ऐसी बात इस तरह मत कहो!
पालन निज कर्त्तव्य करूँगा। बाद को
क्या होता है, सो फिर देखा जायगा!

रेव० —तुम क्या करना चाहो, सो मालूम है
मुझे। नाम को युद्ध करोगे, और फिर
हार मानकर, निन्दा से बचकर स्वयं,

देख सुअवसर, कौशल से उद्देश निज
सिद्ध करोगे !

चन्द्र०— छी-छी, रानी, क्या कहो !
सुनूँ तुम्हारे मुँह से ऐसी बात जब
तब अपने पर आप घृणा होती मुझे !
जान पड़े, मैं शायद ऐसा ही अधम,
धूर्त, चोर हूँ! तुम मुझको कर्त्तव्य की
ठीक राह से मत लौटाओ कुपथ को।

रेव० —तो अपना कर्त्तव्य मुझे भी सर्वथा
करना होगा। अपने बच्चे का भला
आप दबाकर अपने दोनों हाथ से
मारूँगी मैं उसे। न दोगे राज्य जो
उसको, तो फिर तुमने इस संसार मे
एक और कङ्काल बढ़ाया किसलिए ?
वन मे रहना भला, मौत भी है भली,
किन्तु न निर्धन पराधीन जीवन भला।
यह विडम्बना बड़ी कड़ी है आ पड़ी !
देखो, पैदा लड़का मेरे गर्भ से
राजा का हो भाई, शासन और का
कभी सहेगा नही। पराये हाथ का
पाकर भोजन-वस्त्र सुखी होगा नहीं।
मैंने पैदा किया, बनाऊँगी उसे

राजा, अथवा उसका घोटूँगी गला!
नहीं, कुमाता कहकर मन मे वह मुझे
गाली देगा!

(कञ्चुकी का प्रवेश)

कञ्चु०— महाराज, युवराजजी
अभी नगर मे आये हैं। वह शीघ्र ही
आते होंगे यहाँ दर्शनों के लिए।

(प्रस्थान)

रेव० —देखो, मैं इस जगह रहूँगी आड़ मे।
कहना उससे ऐसे तुम—वह बस अभी
अपराधी की तरह शस्त्र सब खोलकर
जालन्धर के राजा को, होकर प्रणत,
आत्म-समर्पण करे।

चन्द्र०— चली जाना नहीं।

रेव० —छिपा न सकती भाव हृदय का; इसलिए
ढोंग स्नेह का मुझसे हो सकता नहीं!
अच्छा होगा यही सुनूँगी आड़ से
तुम लोगों की बातचीत।

चन्द्र०— बस ठीक है।

(रेवती का प्रस्थान)

(कुमार और सुमित्रा का प्रवेश)

कुमा०—चरणों में करता प्रणाम यह दास है।

सुमि०—चाचाजी, मेरा प्रणाम भी लीजिए।

चन्द्र०—सुखी रहो सर्वदा।

कुमा०— बहुत पहले यहाँ
समाचार भेजा था मैंने। आ रही
पीछे भारी शत्रु-सैन्य चतुरङ्गिणी
करने को आक्रमण। आज कश्मीर पर
बादल छाये हैं विपत्ति के। युद्ध की
तैयारी है कहाँ? कहाँ सेना सजी?

चन्द्र०—किसे कहो तुम शत्रु? शत्रु विक्रम नहीं।
बोल सुमित्रा बेटी, विक्रम क्या नहीं
है जामाता पूजनीय कश्मीर का?
इतने दिन पर वह जो आया है यहाँ
तो क्या मैं सत्कार करूँ तरवार से?

सुमि०—चाचाजी, तुम मुझसे कुछ पूछो नहीं।
हाय, अभागिन मैं क्यों आई छोड़कर
अन्तःपुर को? कहाँ छिपा था अब तलक
इतना ऐसा यह अनिष्ट? मैं क्या कहूँ?
अबला नारी के पैरों की चाप से
जाग पड़ा यह सहसा विषधर सर्प है—

सौ फन का फुफकार रहा। मुझसे न तुम
कुछ भी पूछो। बुद्धिहीन मैं मूढ़ हूँ!
भैया, तुम जानो, क्या करना चाहिए।
तुम ज्ञानी, तुम वीर; चरण-तल से लगी
छाया हूँ मैं मौन। विकट संसार की
गति तुम जानो; मैं जानूँ केवल तुम्हे!

कुमा०—महाराज, हैं शत्रु हमारे तो नहीं
जालन्धरपति, बहुत सगे आत्मीय हैं!
किन्तु आक्रमण करने को कश्मीर पर
वह आते हैं शत्रु-भाव से। सह लिया
अपना तो अपमान, रहा चुप मैं वहाँ।
किन्तु राज्य पर जो विपत्ति है आ रही
देखूँगा चुपचाप उसे मैं किस तरह?

चन्द्र०—चिन्ता उसके लिए करो मत पुत्र तुम।
सेना का बल है यथेष्ट कश्मीर मे।
शङ्का की कुछ बात नहीं है।

कुमा०— सैन्य सब
सौंप दीजिए मुझको।

चन्द्र०— देखा जायगा
पीछे। प्रस्तुत जो पहले से हम रहें,
तो फिर निश्चय व्यर्थ युद्ध छिड़ जायगा।

आवश्यकता जान पड़ेगी जिस घड़ी
सब सेना तब, पुत्र, सौंप दूँगा तुम्हे।

(रेवती का प्रवेश)

रेव० —कौन चाहता सेना लेना हाथ मे?
सुमि० और कुमा०—चाचाजी को है प्रणाम।
रेव० — तुम युद्ध से
जान बचाकर भागे, अब घर मे यहाँ
सेनापति की जगह चाहते हो? अहो,
तुम हो क्षत्रिय?—राजपुत्र? तुम चाहते
सिंहासन यह वीरभोग्य कश्मीर का?
छी-छी, हो निर्लज्ज! छिपाकर मुँह रहो
वन मे जाकर। इसी योग्य तुम हो। अगर
सिंहासन पर बैठोगे कश्मीर के
तो देखेगा विश्व सुवर्ण-किरीट की
कलँगी पर कुत्सित कलङ्क अङ्कित हुआ!
कुमा०—जननी क्या अपराध बन पड़ा दास से?
ये कठोर हैं वचन तुम्हारे बाण से!
जननी, क्या यह डाँट-डपट है स्नेह की?
माता, मुझ पर मेरे ही दुर्भाग्य से
बहुत दिनों से असन्तुष्ट सी आप हैं।
दृष्टि तुम्हारी क्रोध भरी बिंधती सदा

मेरे मर्मस्थल मे। जाऊँ पास जो
तो जाती हो और ओर बोले बिना।
कहो अकारण तीव्र वचन। जननी, कहो,
क्या करने से मुझको अपना पुत्र ही
समझोगी तुम?

रेव० — कहूँ?

चन्द्र०— नहीं, बस चुप रहो
रानी!

कुमा०— जननी समय अधिक अब है नहीं।
शत्रु सैन्य को लिये, आक्रमण के लिए,
पहुँच गया है सिर पर। अपने राज्य की
सेना माँगूँ इस कारण।

रेव० — यह कुछ नहीं।
अपराधी की तरह तुम्हे बन्दी बना
भेजूँगी मैं जालन्धर-पति के निकट।
क्षमा करें तुमको तो अच्छी बात है,
नहीं, दण्ड जो देंगे तुमको वह, वही
करना होगा ग्रहण तुम्हे सिर को झुका।

सुमि०—बस चाची, चुप रहो, अहो धिक्कार है
इन बातों को! नारी होकर राज्य के
कामों में क्यों हाथ डालतीं? इस तरह
घोर अमङ्गल के अति दारुण पाश में

आप ˘सोगी और फँसाओगी गला
सबका। छोड़ो कर्मचक्र यह, जो सदा
घूमा करता; दयारहित—ममता-रहित,
इस पथ से मुँह मोड़ रम्य रमणी बनो।
तुम बस केवल स्नेह करो, सेवा करो,
जननी होकर रहो महल मे। युद्ध का
करना कठिन प्रबन्ध, राज्य के कार्य की
देख-भाल का काम हमारा है नही।

कुमा०—आज्ञा क्या है महाराज?

चन्द्र०— बेटा सुनो,
तुम अभिज्ञ हो नही; इसी से सोचते
हो—होते हैं काम सहज ही मे सभी।
स्मरण रखो, अति कठिन राज्य के कार्य हैं।
लाखों ही लोगों के जीवन-मरण का
प्रश्न, किस तरह निश्चित हो सकता अभी?

कुमा०—महाराज, यह देर तुम्हारी है निठुर!
मुझे छोड़कर अनायास आपत्ति के
मुख मे, करना यों विचार स्थिरभाव से
उचित नहीं! अच्छा, प्रणाम। अन्यत्र अब
जाता हूँ।

(सुमित्रा और कुमार का प्रस्थान)

चन्द्र०— क्या कहूँ, तुम्हारी ये निठुर

बातें सुनकर हृदय दया से भर गया।
उतरा चेहरा देख कुँवर का दुःख हुआ।
जी चाहे, स-स्नेह बुलाकर मैं उसे
गले लगालूँ!

रेव० — तुम तो बच्चे हो निरे!
बिना रुखाई और कड़ाई के किये
दूर न होगी बाधा। मर्दों की तरह
अपना करते काम अगर तुम चित्त से
तो मैं घर में बैठ सुअवसर देखकर
करती ममता-दया। न अब वह हो सके।

(प्रस्थान)

चन्द्र०—अति की इच्छा चले बड़े ही वेग से,
देख न पावे राह। स्वयं निष्फल करे
अपने को! वह वायु-वेग से दौड़ती —
बिगड़ा घोड़ा पत्थर की दीवार से
टकराकर जिस तरह चूर्ण रथ को करे!

दूसरा दृश्य

कश्मीर का बाज़ार

लोगों की भीड़

१ आ०—क्यों काका, तुमने जो गेहूँ भर रक्खे थे उन्हें बेचने के लिए आज इतनी जल्दी क्यों है ?

२ आ०—न बेचूँ तो क्या करूँ ? जालन्धर की सेना आना चाहती है। सब लूट लेगी। हमारे यहाँ के इन महाजनों की तोंद फाड़-फाड़कर इनकी सब सम्पत्ति लूट लेगी। गेहूँ और रोटी, दोनों के लिए जगह नहीं रहेगी।

महाजन—अच्छा भैया, हँस लो। मगर जल्दी ही तुमको ये खीसें बन्द करनी पड़ेंगी। लातें सबको सहनी पड़ेंगी।

१ आ०—इसी सुख से तो हम हँस रहे हैं! अबकी हम-तुम एक साथ ही मरेंगे। तुम गेहूँ ख़रीदकर भर रखते थे और हम पेट की ज्वाला से तड़पते थे। अब यह न होगा। अबकी तुम भी तड़पोगे। वह तुम्हारा सूखा हुआ मुख देखकर मैं मरूँ।

२ आ०—हम लोगों को काहे की चिन्ता है भैया! हमारे है क्या? जान यों भी जाती, यों भी जायगी। अच्छी तरह हँस-बोल लो भाइयो!

१ आ०—क्यों जी जनार्दन, तुम इतनी थैलियाँ क्यों लाये हो? क्या कुछ ख़रीदोगे ?

जना०—एकदम साल भर के लिए गेहूँ ख़रीद रक्खूँगा।

२ आ०—ख़रीद तो लोगे, मगर रक्खोगे कहाँ ?

जना०—आज रात को ही अपने मामा के घर भाग जाऊँगा।

१ आ०—मामा के घर तक पहुँचोगे तब न! रास्ते में अनेक मामा बैठे हैं, आदर के साथ तुमको बुला लेंगे।

(कोलाहल करते-करते कुछ लोगों का प्रवेश)

५ आ०—अरे तुम लोग कौन हो? क्या लड़ाई करना चाहते हो? आओ!

१ आ०—मैं लड़ने को राज़ी हूँ; किसके साथ लड़ना होगा—बताओ।

५ आ०—बुड्ढा राजा जालन्धर के राजा से मिलकर हमारे युवराज को पकड़ा देना चाहता है।

२ आ०—हाँ! हम बुड्ढे राजा की दाढ़ी में पलीता लगा देंगे।

अनेक लोग—अपने युवराज की हम रक्षा करेंगे।

५ आ०—बुड्ढे राजा ने गुप्तरूप से युवराज को क़ैद करने की चेष्टा की थी, इसी से हमने युवराज को छिपा रक्खा है।

१ आ०—चलो भाई, बुड्ढे राजा के हाथ-पैर तोड़ दें।

२ आ०—चलो भाई, उसका सिर धड़ से अलग कर दें।

५ आ०—यह सब पीछे से होगा। अभी लड़ना होगा।

१ आ०—हम लड़ेंगे। इसी बाज़ार से ही लड़ाई शुरू न कर दो। पहले इन महाजनों के गेहुँओं के बोरे लूट लो। उसके बाद घी है, कपड़े हैं, चमड़ा है।

(छुठे आदमी का प्रवेश)

६ आ०—सुना है युवराज के छिपने की ख़बर पाकर जालन्धर के राजा ने यह ढिँढोरा पिटवाया है कि उनको जो पकड़ा देगा उसे इनाम मिलेगा।

५ आ०—तुझको इन ख़बरों से क्या काम?

२ आ०—तू इनाम लेगा क्या?

१ आ०—आओ भाई, सब जने मिलकर इसको इनाम दें। चुपके बैठा नहीं रहा जाता।

६ आ०—मुझे मारना नहीं भाई, दोहाई है तुम सबकी! मैं तुम लोगों को सावधान करने आया हूँ।

२ आ०—अबे तू आप सावधान हो।

५ आ०—यह ख़बर अगर तू फैलावेगा तो हम तेरी जीभ पकड़कर खींच लेंगे।

(दूर पर कोलाहल सुन पड़ता है)

अनेक लोग—आ गये! आ गये!

सब लोग—अरे आ गये! जालन्धर के सिपाही आ गये!

१ आ०—तब फिर क्या है! अब लूट शुरू करो। वह

जनार्दन गेहूँ के बोरे भर-भरकर बैलों पर लाद रहा है। बस चलो। इस जनार्दन को छोडकर माल समेत सब बैल हाँक ले चलो।

२ आ०—तुम लोग जाओ भाई! मैं ज़रा तमाशा देख आऊँ। क़तार बाँधकर तरवार हाथ मे लिये जब सेना आती है तब उसे देखने मे मुझे बडा मज़ा आता है।

गान

(तर्ज़—थियेटर)

यह द्वार खुला है यम का। वह खाँड़ा सिर पर चमका॥
जग जीवन का है मेला।
जीना, मरना, अंबहेला॥
बस खेल यही है भ्रम का॥ यह०॥
हो एक साथ ही मरना।
सुख और हमें क्या करना?
कर्त्तव्य यही उत्तम का॥ यह०॥
वह बजा युद्ध का डङ्का।
अब छोड चलो सब शङ्का।
कर स्मरण वीर विक्रम का॥ यह०॥

तीसरा दृश्य

त्रिचूड़-महल

अमरुराज और कुमारसेन

अम०—भागो, भागो, ले डूबोगे क्या मुझे ?
कहता हूँ मत आओ मेरे राज्य मे।
आश्रय देकर तुझको, विक्रमदेव का
अपराधी होना न चाहता मैं। यहाँ
जगह तुम्हारे लिए नही।

कुमा०—　　　　　　　　　　मैं माँगता
आश्रय तुमसे नहीं। अनिश्चित भाग्य के
सागर में मैं इस जोवन की नाव को
छोड़ूँगा। अब तोड़ूँगा सम्बन्ध सब।
उससे पहले एक बार मैं देख लूँ
यहाँ इला को। इतनी ही है प्रार्थना।

अम०—देखोगे किसलिए इला को? देखकर
क्या होगा? मतलबी कुँवर। अपमान का
बोझ लादकर सिर पर मुँह में मौत के
खड़े हुए हो; घर छूटा, आशा मिटी,
अब क्यों आये यहाँ इला को प्रेम की
याद दिलाने!

कुमा०— क्यों आया हूँ, हाय, सो
समझाऊँ किस तरह?
अम०— आप आपत्ति के
प्रबल स्रोत मे बहे जा रहे, तीर की
फूल रही सुकुमार लता को किसलिए
पकड़ो? जाओ, बह जाओ, छोड़ो उसे।
कुमा०—मेरी यह आपत्ति अकेले की नहीं,
दोनों की है। एक नहीं होगा दुखी,
दोनों होंगे। प्रेम न चाहे सम्पदा।
महाराज, इसलिए, दो घड़ी के लिए
मिला दीजिए मुझे इला से!
अम०— हो चुका
मिलना और मिलाना—बस अब जाइए।
तुम्हें भूलने का अवसर उसको मिला!
जीवन भर के लिए बनाना चाहते
दुखिया उसको?
कुमा०— भूल न सकती वह मुझे!
अगर भूलती, तो मैं उसको भूलने
देता। मैं तो उससे यह था कह गया—
आकर तुमसे शीघ्र मिलूँगा, अब तलक
राह देखती होगी मेरी। यह मुझे
पूरा है विश्वास। उसे विश्वास है

मुझ पर। वह है सरला भोली बालिका।
उसका वह विश्वास अटल मैं किस तरह
नष्ट करूँ ?

अम०— विश्वास नष्ट होना भला।
और नहीं तो, अपने जीवन को इला
फिरा न सकती और ओर। चिरकाल के
दु:ख-ताप से, कुछ ही दिन की यन्त्रणा
अच्छी है।

कुमा०— सुख-दु:ख इला का आपने
सौंप दिया है मुझे। फिरा सकते नहीं
आप उसे। सच, आप उसे जाने नहीं!
वह क्या है, सो नहीं समझ सकते कभी!
उसका सुख-दुख, महाराज! है और ही,
जिसको सुख-दुख आप समझते, वह नहीं।
एक बार, बस एक बार, उसको मुझे
दिखा दीजिए!

अम०— मैंने उससे कह दिया—
मर्यादा मे मुझको छोटा जानकर
तुम मुझसे सम्बन्ध न करना चाहते!
किया बहाना, जाना है रण के लिए
दूर देश को। बैठ रहे कश्मीर मे।

कुमा०—कैसा छल! धिक्कार! सरल वह बालिका

क्या बेटी है ऐसे कपटी बाप की?
ऐसा निष्ठुर झूठ कहा जब आपने
सोते थे भगवान उस समय क्या? गिरा
वज्र तुम्हारे सिर के ऊपर क्यों नहीं?
अब भी क्या वह जीती होगी बालिका?
जाने दो, जाने दो मुझको—क्या नहीं
जाने दोगे? तो लेकर तरवार बस
मारो मेरे, मरूँ, मर गया यों कहो।
झूठ न बोलो उससे, छल यों मत करो।

(शङ्कर का प्रवेश)

शङ्कर —आये हैं जासूस शत्रुओं के यहाँ,
पता लगाते फिरे आपका। आपकी
ख़बर मिली है उनको। बस, चल दीजिए।
कुमा०—जाऊँगा मैं कहाँ? और छिपकर मुझे
करना क्या है? यह जीवन भारू हुआ
अब तो!
शङ्कर — वन मे खड़ी सुमित्रा देखती
राह तुम्हारी!
कुमा०— चलो। इला! प्यारी इला!
कहाँ गई! मैं आकर तेरे द्वार पर
लौट गया! जब भाग्य फूट जाते प्रिये!

जग मे चारों ओर तभी आनन्द की
राहें होतीं बन्द! अविश्वासी नहीं,
यद्यपि हूँ दुर्भाग्य। चलो, आओ चलें।

चौथा दृश्य

त्रिचूड़-अन्तःपुर

इला और सखियाँ

इला—झूठ, झूठ है! तुम सब सखियो, चुप रहो।
उसके मन का हाल नहीं मुझसे छिपा।
सखियो! सब शृङ्गार करो अच्छी तरह,
बाँधो चोटी फूलों से, लाओ वही
नीली सारी! थारी भरकर तोड़ लो
महक रहे मालती-फूल। इस झील के
तट पर, उस तरु तले कुँवर को बैठना
रुचता था। उस जगह शिला पर डाल दो
आसन। बैठूँ इसी तरह मैं नित्य ही।
नित्य करूँ शृङ्गार, न जाने किस समय
सहसा मेरा प्यारा आवे लौटकर?
मधुर हमारा मिलन देखने के लिए
रात्रि पूर्णिमा की दो-दो फिर फिर गईं
हो निराश। पर, अबकी निश्चय है मुझे

रात्रि पूर्णिमा की होगी निष्फल नहीं।
आवेगा वह यहाँ। न आवे भी अगर
तो तुम लोगों को उससे क्या हानि है!
भूल जायगा अगर मुझे वह, तो उसे
समझ सकूँगी मैं ही अपने हृदय मे।
भूलेगा क्यों नहीं, भला क्या बात है
ऐसी मुझमें! मुझे भूलकर वह सुखी
हो जो, तो है वही भला; वह हो सुखी!
सखियो, तुम बस वृथा बको मत! चुप रहो।

गान

(कव्वाली)

रहती है मुझको निसदिन, हृदयेश! चाह तेरी।
जी चाहे जो कभी, तो कर लेना याद मेरी॥
बैठी रहूँगी तेरे कारन इसी जगह पर।
छुट्टी मिले कभी तो करना यहाँ की फेरी॥
मैं रात भर विरह से व्याकुल जगा करूँगी।
तड़के तनिक दिखाना मुखचन्द की उजेरी॥
फूले वसन्त-वन मे आनन्द के भवन में,
सुख से रहो, न होगी इसमें उदास चेरी॥
रहकर प्रसन्न, बहना अपने हृदय के सुख की,
लहरों में, सच कहूँ मै, इच्छा यही है मेरी॥

मै भी बहूँगी, हूँगी न तुझसे नेक न्यारी;
जो साथ आ पड़ूँगी, पाऊँगी राह तेरी ॥
जो दूर जा पड़ूँ मै, तो हानि क्या तुम्हारी,
मुझको ही भूल जाना, करना न याद मेरी ॥

पाँचवाँ दृश्य

कश्मीर-शिविर

विक्रमदेव, जयसेन और युधाजित

जय०—महाराज, वह कहाँ भागकर जायगा ।
ला दूँगा मैं उसे पकड़कर आपके
आगे । बिल मे आग लगाने से तुरत
साँप आपही बाहर निकले, ताप से
घबराकर । कश्मीर देश भर में अभी
आग लगा दूँगा । बस, तब वह आपही
निकलेगा, फिर पकड़ मिलेगा सहज मे ।

विक्र०—इतनी दूर, यहाँ तक पीछा भी किया—
कितने वन, नद, नदी, पहाड़ों के शिखर
नाँघे—फिर भी हाथ न आया ! भग गया !
वही चाहिए, वही चाहिए बस मुझे !
उसको पाये बिना चैन मुझको नही;
खाना पीना सोना सभी हराम है ।

शीघ्र मिलेगा मुझे नहीं वह जो यहाँ
तो मैं करके खण्ड-खण्ड कश्मीर को
देखूँगा वह छिपा कहाँ पर है!

युधा०— प्रभो,
पुरस्कार-घोषणा पकड़ने के लिए
कर दी है।

विक्र०— जिस तरह बने, पकड़ो उसे।
और काम मे हाथ लगा सकता तभी
जब वह मुझको मिले। राज्य मेरा पड़ा
है अनाथ सा। शून्य राज्य का कोष है।
देश अराजक; फिर अकाल भी पड़ गया,
लौट न सकता तब भी। भागे शत्रु ने
मुझे बाँध रक्खा उलटे दृढ़ पाश मे!
जान पड़े यह सदा—मिला, अबकी मिला;
वह आया; वह देख पड़ा, ज्यों हाँफता
डरा हुआ मृग मृगया का। लाओ उसे
जल्दी, जीता, मरा, मिले जैसा। बिना
उसके मेरा सब कुछ बिगड़ा जा रहा।

(पहरेदार का प्रवेश)

पहरे०—राजा-रानी आये हैं कश्मीर के
मिलने को।

विक्र०—(जयसेन और युधाजित से)

तुम हट जाओ!

(पहरेदार से) लाओ उन्हें!

(अन्य सबका प्रस्थान)

आये मेरे सास-ससुर, अब क्या करूँ ?
कुछ कुमार की बात कहेंगी सास जो
तो मैं उनसे भला कहूँगा क्या? अगर
माँगे मुझसे क्षमा? कहूँगा क्या "नहीं"?
देख न सकता रोना मैं स्त्री-जाति का!

(चन्द्रसेन और रेवती का प्रवेश)

चरणों मे मेरा प्रणाम स्वीकार हो।

चन्द्र०—जियो!

रेव० — विजय को प्राप्त करो, सब कामना
पूरी हो।

चन्द्र०— अपराध तुम्हारा कुछ किया
है कुमार ने?

विक्र०— हाँ कुमार ने जानकर
मेरा अति अपमान किया है।

चन्द्र०— दण्ड क्या
ठीक किया है तुमने, देने के लिए?

विक्र०—बन्दी बन अपमान करें स्वीकार जो
तो कर दूँगा क्षमा।

रेव० — यही बस? और कुछ
नहीं? अन्त को यदि करनी ही थी क्षमा
तो फिर इतना क्लेश उठाकर, सैन्य ले
आयं इतनी दूर किसलिए?

विक्र०— इस तरह
व्यङ्ग्य बोलकर मुझे न लज्जित कीजिए।
राजा का है मुख्य काम निज मान की
रक्षा करना। जो मस्तक धारण करे
रत्न-मुकुट, वह असम्मान के बोझ को
लाद न सकता। वृथा बहाने से यहाँ
मैं आया हूँ नहीं।

चन्द्र०— क्षमा उसको करो।
बेटा, वह नासमझ अभी—बालक अभी।
देना ही हो दण्ड उसे तो राज्य का
सिंहासन लो छीन—निकालो देश से।
यह अच्छा, पर प्राण न लेना!

विक्र०— मैं उसे
मार डालना नहीं चाहता।

रेव०— किसलिए

फिर लाये थे तुम इतने हथियार ये ?
क्यों इतने हैरान हुए ?

विक्र०— कुछ भी मुझे
समझ न पड़ता, क्या कहती हैं आप यह।

चन्द्र०—बेटा, कुछ भी नहीं; कहे कुछ भी नहीं।
मैं कहता हूँ, सुनो खुलासा हाल सब।
सेना माँगी थी कुमार ने युद्ध को
मुझसे। मैंने कहा—"हमारे हैं सगे
जालन्धरपति स्नेहपात्र! उनसे तुम्हे
लड़ना-भिड़ना उचित नहीं!" सुनकर उसे
क्षोभ हुआ। बहँकाकर उसने सब प्रजा
खड़ा किया विद्रोह? इसी से हैं ख़फ़ा
रानी उस पर। करे इसी से प्रार्थना
तुमसे, तुम दो दण्ड उसे विद्रोह का!
देना भारी दण्ड नहीं। वह नासमझ
बालक ही है।

विक्र०— उसे पकड़ लूँ मैं प्रथम;
यथायोग्य होगा विचार फिर सोचकर।

रेव०—उसे छिपाकर रक्खा है घर मे कहीं
दुष्ट प्रजा ने, घर-घर मे तुम घूमकर
आग लगाओ, खेत उजाड़ो, लूट लो।
ऐसा कर दो, जिसमें घर-घर भूख से

हाय-हाय मच जाय। निकालेगी उसे
तभी प्रजा।

चन्द्र०— चुप-चुप, रानी, यह क्या कहो।
विक्रम, बेटा, चलो महल को क्यों यहाँ
पड़े हुए हो?

विक्र०— महाराज आगे चले;
आता हूँ मैं पीछे से

(चन्द्रसेन और रेवती का प्रस्थान)

डाइन अरी!
ख़ूनी औरत! आग नरक की! इस तरह
मित्र बनाकर काम निकाला चाहती।
इतने दिन में इसके चेहरे पर मुझे
देख पड़ा प्रतिबिम्ब कठिन निज हृदय का!
ऐसी हो क्या तीक्ष्ण क्रूर टेढ़ी खिची
रेखा मेरे मस्तक में ज्वालामयी?
फरक रहे क्या ओठ तीव्र हिंसा-भरे
योंही मेरे? मेरी वाणी बाण सी
ज़हरीली क्या योंही टेढ़ी है? नहीं,
कभी नहीं। यह मेरी हिंसा स्पष्ट है।
सर्वनाश यह करना चाहे और का,
किन्तु चोर की तरह कभी छिपकर नहीं!
प्रबल प्रेम सी यह प्रचण्ड ज्वाला बड़ी

ऊँची है आकाशतलक। यह चाहती
सबको ग्रसना। इसे रोक सकता नहीं
कोई भी! मैं सगा नहीं, मैं शत्रु हूँ
तुम लोगों का! हे विक्रम, संहार का
खेल करो यह बन्द! बुझा दो यह चिता!
जिससे दुष्ट पिशाच पिशाची ये सभी
बस अतृप्त ही रहें, दीप्त हिंसा-तृषा
लिये हृदय मे, रुद्ध रोष से जल रहे।
बतला दूँगा तुम्हे एक दिन पापियो,
मैं कोई भी कभी तुम्हारा हूँ नहीं।
गुप्त क्षोभ यह नहीं सफल होगा कभी।
कर दूँगा तुमको निराश। यह रक्त की—
प्यास बुझेगी नहीं। देखना है मुझे।
विषधर नर किस तरह आपही जल मरे
अपने विष से! स्त्री का हिंसा भाव से
भरा हुआ मुख कैसा लगता है बुरा!
कैसा कुत्सित और भयानक निठुर था!

(चर का प्रवेश)

चर—ख़बर मिली है अब त्रिचूड़ की ओर को
कुँवर गये हैं।

विक्र०— समाचार यह गुप्त ही

रखना! जल्दी मैं शिकार को उस जगह
जाऊँगा!

चर-- है शिरोधार्य आज्ञा मुझे।

छठा दृश्य

जङ्गल

सूखे पत्तों की सेज पर कुमार लेटे हैं और सुमित्रा बैठी है।

कुमा०--कितनी रात है?

सुमि०--रात अब नहीं है भाई। आकाश मे लाली छा गई है। केवल घने वृक्षों ने यहाँ अन्धकार बना रक्खा है।

कुमा०--जान पड़ता है, तुम सारी रात बैठी जागती रही हो! बहन, क्या नींद नहीं पड़ती?

सुमि०--अभी एक बुरा सपना देखकर जाग पड़ी हूँ। रात भर यही जान पडता है कि इन सूखे पत्तों पर जैसे कोई चल रहा है। जान पड़ता है, पेड़ों की आड़ में कुछ लोग फुसफुस करके बातें कर रहे हैं--निर्जन मे कोई सलाह कर रहे हैं। थकावट के मारे अगर कभी आँखें बन्द हो जाती हैं, तो वैसे ही दारुण दुःस्वप्न देखकर रोकर जाग उठती हूँ। जब देखती हूँ, तुम सुख से सो रहे हो तब जैसे जान में जान आती है!

कुमा०—बुरी चिन्ता से ही बुरे सपने देख पड़ते हैं। मेरे लिए अधिक सोच न करो बहन! मैं सुख से हूँ। जीवन की मँझधार में डूबकर किसने जीवन का सुख जाना है? मरण के किनारे पर खड़ा हूँ। मानो यह प्राणपण से जीवन का एकान्त उपभोग है। इस संसार मे जितना सुख है, जितनी शोभा है, जितना प्रेम है, सब जैसे खूब कसकर मुझसे लिपट रहा है! जीवन के हर बूँद मे जितनी मिठास है उस सबका स्वाद मैं पा रहा हूँ! घना वन, ऊँचा शिखर, खुला हुआ आकाश, उमङ्ग से लहरा रही नदी—यह सब शोभा बड़ी ही विचित्र है। बे माँगा प्यार वन की पुष्प-वर्षा के समान बराबर मेरे ऊपर बरसा करता है। चारों ओर भक्त प्रजा है। साक्षात् प्रीति की मूर्ति तुम सिरहाने बैठी हो। प्राण-पक्षी ने शायद उड़ जाने से पहले अपने रङ्ग-बिरङ्गे पर फैलाये हैं। वह सुनो—लकडिहारा गा रहा है। राज्य के समाचार इससे सुनने मे आवेंगे।

(लकड़िहारे का प्रवेश और गाना)

गान

तुम्हे पेड़ के तले, मित्र, मैं राजा आज बनाऊँगा।
बीने बन-फूलों की माला सुख से, प्रिय, पहनाऊँगा॥
सिंहासन की जगह बिछाकर हृदय तुम्हे बिठलाऊँगा।
और वहाँ आनन्द-आँसुओं से अभिषेक कराऊँगा।

कुमा०—(आगे बढ़कर) मित्र, आज क्या ख़बर है?

लकड़ि०—मालिक, अच्छी ख़बर नहीं है! कल रात को जयसेन ने नन्दिगाँव को जला दिया है। आज पाण्डुपुर की तरफ़ आ रहा है।

कुमा०—हाय, मेरी भक्त प्रजा, तेरी मैं कैसे रक्षा करूँ। भगवान्, आप इस निरपराध दीन पर इतने निर्दय क्यों हैं?

लकड़ि०—(सुमित्रा से) मैया, लकड़ियों का गट्ठा लाया हूँ, यह रक्खा है।

सुमि०—जीते रहो।

(लकड़िहारे का प्रस्थान)

(नट का प्रवेश)

कुमा०—क्या ख़बर है?

नट—सावधान रहिए युवराजजी! युधाजित ने ढिंढोरा पिटवाया है कि आपको जीता या मरा जो पकड़ा देगा उसको इनाम मिलेगा। मालिक, किसी पर विश्वास न करना।

कुमा०—विश्वास करके ही मरना अच्छा, अविश्वास किस पर करूँ? तुम सब मेरे भक्त मित्र सरल स्वभाव के आदमी हो।

नट—मैया, महारानी, थोड़ा सा ताजा शहद अभी उतार कर लाया हूँ; दया करके लीजिए।

सुमि०—भगवान् तुम्हारा मङ्गल करें।

(नट का प्रस्थान)

(शिकारी का प्रवेश)

शिकारी—जय हो मालिक। बकरे के शिकार के लिए दूर पहाड़ी पर जाना होगा। वह जगह बड़ी बीहड़ है। आपके चरणों मे प्रणाम करके जाता हूँ। जयसेन ने मेरा घर जला दिया है।

कुमा०—उस पिशाच को धिक्कार है!

शिका०—हम शिकारी हैं। जब तक वन है तब तक हमारे घर को कोई मिटा नहीं सकता। महारानी, कुछ भोजन का सामान लाया हूँ। ग़रीब की यह तुच्छ भेंट लीजिए। हे भगवान्, मैं लौटकर अपने मालिक को राजगद्दी पर बैठे देखूँ!

कुमा०—(हाथ बढ़ाकर) आओ मित्र, तुम को गले लगा लूँ।

(शिकारी का प्रस्थान)

कुमा०—वह देखो वृक्ष के पत्तों को फोडकर सूर्य के प्रकाश की रेखाएँ भीतर आने लगी। चलूँ, झरने के पास चलकर स्नान-सन्ध्या कर डालूँ। चट्टान पर बैठे-बैठे घण्टों अपनी परछाहीं को ताका करता हूँ। मुझे मैं आप छाया जान पड़ता हूँ। इस झरने की नदी त्रिचूड़ के प्रमोदवन के भीतर से बही है। जी चाहता है कि मेरी छाया धारा में बहकर वहीं पहुँच जाय जहाँ शाम को पेड़ के नीचे इला बैठी रहती है। और उसकी मलिन छाया को साथ लेकर सदा के लिए सागर

की ओर बह जाय! स्वप्न-कल्पना व्यर्थ है। चलो बहन, नित्य-कार्य कर डालें। वह सुनो, वन मे चारों ओर पक्षी चहचहा उठे।

सातवाँ दृश्य

त्रिचूड़—प्रमोदवन

विक्रमदेव और अमरुराज

अम०—मेरा जो है किया समर्पण सब तुम्हें।
तुम हो क्षत्रियवीर। तुम्हारे तुल्य है
और न कोई राजा मेरी दृष्टि मे।
कन्या मेरी इला तुम्हारे योग्य है,
उसे करो स्वीकार। वृक्ष सहकार का
आश्रय है माधवी-लता का। इस जगह
तनिक ठहरिए आप, भेजता हूँ उसे।

(प्रस्थान)

विक्र०—कैसा है यह स्थान मनोहर, शान्ति से
भरा हुआ। वन सघन नील आकाश सा।
वृक्षों पर जिस जगह घनी छाया, वहाँ
सुख से सोते पक्षी हैं। शीतल सुखद
झरनों का कलनाद बनाता मुग्ध सा।
यो शीतल चुपचाप और गम्भीर भी
होकर ऐसी प्रबल और सागर-सदृश

अति उदार है शान्ति; बहुत दिन तक इसे
भूल गया था मानो मेरा मूढ़ मन।
मेरे जी की जलन, अन्त जिसका नहीं,
वह भी जैसे यहाँ मिटेगी—शान्ति मे
लीन हुई—कुछ भी न चिह्न रह जायगा
इतनी गम्भीरता, स्निग्ध छाया यहाँ।
हाय, हमारा ऐसा ही एकान्त सुख
रहा नहीं! क्यों? इसमें किसका दोष है?
मेरा ? उसका? किसका? जिसका हो, उसे
पा सकता क्या कभी नही इस जन्म में?
जाओ तो बस दूर—एकदम दूर तुम।
इस जीवन में पछतावे के रूप से
जी न दुखाओ। देखूँ जो इस स्थान में—
इस जग के इस अतिनिर्जन नेपथ्य मे—
पाऊँ वैसा मधुर और गम्भीर भी
नया प्रेम!

(सखी के साथ इला का प्रवेश)

यह कैसा सुन्दर रूप है।
मैं कृतार्थ हो गया! यहाँ पर सुन्दरी
बैठो! क्यों हो मौन? झुका सिर किस लिए?
क्यों उदास मुख हुआ? लता से अङ्ग सब

काँप रहे क्यों? क्या कोई है वेदना?

इला —(घुटने टेककर)

सुनती हूँ, तुम महाराज अधिराज हो;
सागर तक विस्तार तुम्हारे राज्य का।
भिक्षा माँगू कुछ, सो मिलनी चाहिए।

विक्र०—उठो, उठो, सुन्दरी! तुम्हारे मृदु चरण
कठिन भूमि के योग्य नहीं हैं। किसलिए
तुम धरती पर पड़ी हुई हो? कुछ कहो।
कौन वस्तु है ऐसी तीनों लोक मे
जो न तुम्हे दी जा सकती हो सुन्दरी?

इला —सौंप दिया है मुझे पिता ने आपको।
भिक्षा माँगू यही, ग्रहण मत कीजिए—
फेर दीजिए मुझे। आपके पास तो
होंगे अगणित राज्य, देश, धन, रत्न. जन;
मुझे छोड़ दो। तुम्हे कमी किस बात की?

विक्र०—कमी नहीं है मुझको? तुमने किस तरह
यह जाना? यह हृदय दिखा सकता कहीं
तो होता मालूम तुम्हें, क्या है कमी!
कहाँ रत्न-धन? कहाँ सुविस्तृत राज्य है?
शून्य पड़ा है हृदय! राज्य-वैभव नहीं
होता, होती कहीं तुम्हीं—केवल तुम्हीं—

इला —तो यह जीवन आप लीजिए—लीजिए!

जैसे तुम सब लोग तीर से चीरकर
हृदय, पकड़ ले जाते हो वन की मृगी,
वैसे पहले मुझे मारकर, प्राण ले,
ले जाओ।

विक्र०— क्यों देवि, घृणा यह किसलिए?
क्या मुझको ऐसा अयोग्य तुम जानतीं?
जीते इतने राज्य, देश अपना लिये
मैंने, क्या यह हृदय तुम्हारा, प्रार्थना
करने पर भी मुझे न मिल सकता?

इला— हृदय?
रहा न मेरा! सब सौंपा मैंने जिसे
वही उसे ले गया बिदा होते समय।
इस वन मे फिर मिलने को है कह गया।
कितने दिन हो गये! न आया वह सुदिन!
अब काटे से कटे न दिन! तब भी यहाँ
पड़ी हुई हूँ राह देखती। इस जगह
आकर मुझको देख न पावे जो कहीं—
लौट जायगा; और अगर फिर लौटकर
प्रियतम आवे नहीं! यही खटका लगा।
महाराज, ले जाओगे मुझको कहाँ?
छोड़ गया है मुझको जो, उसके लिए
मुझे छोड दो!

विक्र०— कौन भाग्यशाली पुरुष
वह है? देखो, सावधान, अतिप्रेम को
देख न सकता दैव। बात मेरी सुनो।
एक समय था, जब समस्त संसार को
तुच्छ समझ, मैं करता केवल प्रेम था।
उस पर ईर्ष्या हुई दैव को। जागकर
देखा, बिगड़ा है न जगत का कुछ कहीं—
चूर्ण हो गया केवल मेरा प्रेम ही!
क्या है उसका नाम जिसे तुम चाहती?

इला—पराक्रमी युवराज देश कश्मीर का—
कहते उसे कुमारसेन सब लोग हैं।

विक्र०—क्या कुमार?

इला— क्या उसे जानते आप भी!
कौन न जाने उसे? न प्यारा वह किसे?

विक्र०—क्या कुमार? युवराज देश कश्मीर का?

इला—महाराज, हाँ वही। उसी का नाम बस
सुन पड़ता है सभी ओर। है मित्रता,
शायद उससे और आप से! योग्य वह
पृथ्वी-पति; उसका प्रभाव वैभव बड़ा।

विक्र०—उसका तो सौभाग्य-सूर्य अब, सुन्दरी,
अस्ताचल को चला! न तुम आशा करो

उसकी। वह तो अब शिकार का मृग हुआ—
डरकर भागा फिरे, निराश्रय, छिप रहा
सघन वनों मे। अब तो इस कश्मीर का
दीन-हीन भिक्षुक भी उससे है सुखी।

इला —महाराज, क्या कहा ?

विक्र०— रहो तुम भूमि के
एक छोर में। केवल करती प्यार हो।
तुम क्या जानो, गरज रहा संसार है
हृदय-राज्य के बाहर; कर्मप्रवाह मे
कौन बहा जा रहा—किधर। केवल उधर
अश्रुपूर्ण अतिसरल दृष्टि से ताकती
रहती हो' पर आशा उसकी है वृथा !

इला —महाराज, सच कहो; झूठ मत बोलना !
देखो, स्त्री का हृदय बहुत ही क्षुद्र यह
केवल उस प्रिय से ही मिलने के लिए
साँस ले रहा। राह उसी की तक रहा।
किस निर्जन वन बीच, शून्य किस मार्ग मे
घूम रहा मेरा कुमार ? मुझसे कहो,
मैं जाऊँगी वहाँ—छोड़कर घर कभी
कहीं गई हूँ नहीं। कहो, मुझको कहाँ
जाना होगा ? किधर, कौन सी राह में ?

विक्र०—बाग़ी है वह; उसे ढूँढ़ते फिर रहे
राजा के जासूस हर तरफ़ हर घड़ी!

इला —तुम क्या कोई मित्र-हितू उसके नहीं?
क्या तुम लोग न उसकी रक्षा कर सको?
मारा-मारा फिरे वनों मे, यह दशा।
देखोगे चुपचाप? करोगे कुछ नहीं?
मन में कुछ भी नहीं किसी के है दया?
प्यारे, मैं जानती नहीं, तुम हो कहाँ—
किस सङ्कट मे पड़े? तुम्हारे ही लिए
बैठी हूँ मैं यहाँ। देर इतनी हुई।
कभी-कभी, ज्यों बिजली चमके, इस तरह
होता था सन्देह। सुना था, प्रिय, बहुत
लोग तुम्हे चाहते। आज आपत्ति के
दिन मे वे सब कहाँ गये? "आपत्ति का
साथी कोई नहीं"—किसी ने ठीक ही
कही कहावत है यह। सुनिए, आप तो
कहलाते हैं पृथ्वीपति, फिर आप क्या
दीन-बन्धु या कृपा-सिंधु भी हैं नहीं?
बल, विक्रम, यश, सैन्य अमित है आपके;
कुछ सहायता आप न उसकी कर सके?
तो बतलाओ राह मुझे; मैं ही वहाँ
जाऊँ; शायद कुछ सहायता कर सकूँ?

अबला, नारी, अगर न कुछ भी कर सकी,
दूँगी अपने प्राण प्राणपति के लिए।

विक्र०—कैसा गहरा प्रबल प्रेम है! तुम सदा
योंही चाहो, प्यार करो, सुख से रहो।
जिसको तुमने दिया हृदय, केवल उसे
चाहो। मैं तो प्रेम-स्वर्ग से भ्रष्ट हूँ।
हो जाऊँगा धन्य, देखकर मैं तुम्हे।
देवि, तुम्हारा प्रेम न मुझको चाहिए;
फूल गिर गये, सूख गई जो डाल है—
और डाल से फूल तोड़, उसमे लगा—
उसको मैं किस तरह सजाऊँगा भला?
मुझ पर तुम विश्वास करो, मैं मित्र हूँ!
डरो न, मेरे साथ चलो, उससे तुम्हे
मिला न दूँ तो, इला, न मेरी गति बने!
मैं कुमार को अभी ढूँढ़ लूँगा; उसे
गद्दी दूँगा और तुम्हारा ब्याह भी
कर दूँगा तत्काल।

इला— महाशय, आपने
दिया प्राण का दान मुझे! कहिए, कहाँ
जाना होगा?

विक्र०— तो आओ तैयार हो।
चलना होगा वहाँ राजधानी जहाँ

दर्शनीय कश्मीर राज्य की।

(इला और सखी का प्रस्थान)

युद्ध अब

अच्छा लगता नहीं। शान्ति उससे अधिक
है असह्य। गृहहीन और भागे हुए
तुम कुमार! हो सचमुच ही मुझसे सुखी!
तुम जाओगे जहाँ कहीं संसार में,
सदा तुम्हारे साथ रहेगा यह अटल
रमणी का रमणीय प्रेम; ज्यों देवता
की रहती अनुकूल और स्थिर दृष्टि है
भाग्यवान पर सदा। उसी शुभ प्रेम की
अति पवित्र नव किरणों से आपत्ति का
मेघ चमकता, स्वर्णमयी सम्पत्ति सा।
मैं किस सुख को फिरूँ लिये जय की ध्वजा
एक देश से अन्य देश मे? हृदय तो
जलता रहता हिंसा और अशान्ति से!
कहाँ कौन से मानस-भीतर खिल रहा
उज्ज्वल शीतल कोमल सुन्दर प्रेम का
दिव्य सुगन्धित कमल-कुसुम? हे सुन्दरी,
प्रेममयी, इन मलिन, कलङ्कित रक्त से
हाथों को, अपने पवित्र जो अश्रु हैं
उनसे धो दो!

(पहरेदार का प्रवेश)

पहरे०— महाराज, आये हुए
देवदत्तजी खड़े द्वार पर हैं।

विक्र०— उन्हें
ले आओ इस जगह।

(देवदत्त का प्रवेश)

देव० — दुहाई ! मर गया
ब्राह्मण, रक्षा करो !

विक्र०— अरे यह क्या ? यहाँ
आये तुम किस तरह? दैव अनुकूल है
मुझ पर। तुम हो मित्ररत्न मेरे।

देव० — प्रभो,
ठीक कहा। मैं रत्न न होता तो मुझे
बड़े यत्न से यों कर रखते बन्द क्यों ?
बड़े भाग्य से द्वार खुला पाकर, यहाँ
आया हूँ मैं भाग। जानकर रत्न फिर
सौंप न देना मुझको पहरेदार को !
मित्ररत्न ही मुझे न जानो; ब्राह्मणी
का भी हूँ पतिरत्न। हाय क्या ब्राह्मणी
जीती होगी अब तक ?

विक्र०— यह क्या बात है !

मुझको तो कुछ ख़बर नहीं। तुम क़ैद थे ?

देव० —तुम क्या जानो, जाने पहरेदार दो !
शास्त्रों की बहु बातें, बातें काव्य की
उन्हें सुनाईं। सुनकर दोनों मूर्ख वे
हँसते थे। बरसात देखकर एक दिन
विरहव्यथा जग उठी; बुलाकर तब उन्हें
लगा सुनाने मेघदूत। आने लगी
नींद गँवारों को। उदास हो खेद से
उठकर मैं चल दिया वहाँ से इस तरफ़।
विरही ब्राह्मण क़ैद किया; रक्खे वहाँ
खूब छाँटकर ऐसे अच्छे दो आदमी !
इतने तो हैं शूर सिपाही आपके,
शास्त्र समझनेवाला था कोई नहीं ?

विक्र०—बड़ा कष्ट यह, मित्र, तुम्हें अबकी मिला।
जिस पाजी ने तुम्हें किया है क़ैद यों
उसको दूँगा कड़ा दण्ड। निश्चय वही
होगा खल जयसेन ?

देव० — दण्ड की बात फ़िर
होगी; अब यह युद्ध बन्द कर दीजिए।
शीघ्र यहाँ से चलिए अपने देश को।
सच कहता हूँ महाराज, अबकी मुझे
विरह-व्यथा का पूरा अनुभव हो गया।

प्रथम समझता था, बड़े-बड़े लोग ही
विरह-व्यथा मे, काटी मछली की तरह
छटपट करते। किन्तु आज देखा, प्रभो,
साधारण इस ब्राह्मण को भी पञ्चशर
नहीं छोड़ता, कुछ विचार करता नहीं
छोटे और बड़े का।

विक्र०— यम की, प्रेम की,
सब पर है सम दृष्टि। मित्र, घर को चलो!
मुझको केवल एक काम करना रहा,
वह भी हो ले। सहायता तुम भी करो।
वन मे छिपा कुमार कहीं पर है यहाँ।
पता मिलेगा उसका तुम्हें त्रिचूड़ के
राजा से। तुम उसे ढूँढ़कर यों कहो—
अब मैं उसका शत्रु नहीं हूँ। शस्त्र सब
फेक दिये हैं; प्रेम-पाश मे बस उसे
बाँधूँगा। हाँ मित्र, और कोई वहाँ
जो हो—तुमको देख पड़े जो और भी
कोई—

देव०— सो सब महाराज, मैं जानता।
रहती उनकी याद हर घड़ी आपको।
अब तक उनकी बात न मैंने कुछ कही।
मुँह से जैसे बात निकलती ही नहीं।

उनकी बातें हुई अनिर्वचनीय अब।
वह सच्ची हैं सती, इसी से पा रही
इतना दारुण दुःख। स्मरण जब मैं करूँ
उनको, आती याद जानकी की मुझे।
जाता हूँ।

विक्र०— आता वसन्त जब, तब प्रथम
आता दक्षिण-पवन; उसी के बाद फिर
वन-लक्ष्मी नव पुष्प-पल्लवों को लिये
हो उठती है विकसित। तुमको देखकर
आशा होती है मन मे, वे प्रथम के
दिन मेरे, ले साथ सभी सुख, लौटकर
फिर आवेंगे! मुझे बनावेंगे सुखी!

आठवाँ दृश्य

जङ्गल

कुमारसेन के दो अनुचर

एक—देख माधो, कल जो मैंने सपना देखा है उसका मतलब कुछ समझ मे नहीं आता। शहर में जाकर ज्योतिषी-जी से पूछूँगा।

दूसरा—क्या सपना था? कहो तो।

पहला—जैसे एक महापुरुष इस पानी के भीतर से निकलकर मेरे पास आये, और मुझे तीन बड़े-बड़े बेल देने लगे। मैंने दो बेल तो दोनों हाथों में ले लिये। तीसरा बेल किस तरह लूँ, इसी सोच में पड़ गया।

दूसरा—दुर मूर्ख, तीनों बेल चादर में बाँध लेता।

पहला—अरे जागने पर तो सभी को सूझ पड़ती है—उस समय तू कहाँ था? उसके बाद सुन न, वह बेल ज़मीन पर गिरकर लुढ़कने लगा। मैं भी उसके पीछे-पीछे चला। एकाएक देखा, पीपल के नीचे बैठे हुए युवराजजी पूजा कर रहे हैं। बेल उछलकर उनकी गोद में चला गया। वैसे ही आँख खुल गई।

दूसरा—यह भी तू समझ न सका। हमारे युवराज जल्द राजा होंगे।

पहला—मैंने भी यही ठहराया था। लेकिन मैंने जो दो बेल पाये, उसका क्या फल होगा?

दूसरा—तेरे लिए और क्या होगा? तेरे खेत मे बैंगन बहुत फलेंगे।

पहला—नहीं भाई, मैं तो समझता हूँ, मेरे दो लड़के होंगे।

दूसरा—हाँ देखो, कल मैंने भी एक अजीब बात देखी है। इसी जल के किनारे मैं और रामचरन दोनों दही मे चिड़वे भिगोकर खा रहे थे। मैंने बात ही बात में कहा कि दुबेजी ने गणित करके कहा है कि युवराज के बुरे दिन बीत गये। अब वे जल्द राजा होंगे। एकाएक सिर पर कोई तीन बार

कह उठा—'ठीक! ठीक! ठीक!' ऊपर आँख उठाकर देखा, गूलर के पेड़ पर इतनी बड़ी एक गिलहरी बैठी थी!

(रामचरण का प्रवेश)

पहला—क्या ख़बर है रामचरन ?

राम०—अरे भाई, आज एक ब्राह्मण इस जङ्गल के आस-पास युवराज का पता लगा रहा था। उसने घुमा-फिराकर मुझसे न जाने कितनी बातें पूँछी। मगर मैं क्या वैसा मूर्ख था? मैं भी घुमा-फिराकर जवाब देने लगा। बहुत खोज करके अन्त को वह चला गया। मैंने उसे "चित्तल" की राह दिखा दी है। अगर ब्राह्मण न होता तो आज मैं उसे जीता न छोड़ता।

दूसरा—तो फिर यह जङ्गल भी छोड़ देना होगा। जान पड़ता है, सालों को ख़बर लग गई।

पहला—यहीं बैठ न जाओ भाई रामचरन—ज़रा गप-शप लड़ावें।

राम०—युवराज के साथ हमारी राजकुमारी इधर ही आ रही हैं। चलो भाई, दूर हट चलें।

(सबका प्रस्थान)

(कुमारसेन और सुमित्रा का प्रवेश)

कुमा०—शङ्कर पकड़ा गया। वृद्ध छिपकर स्वयं
छद्मवेष से गया हुआ था, भीतरी

समाचार के लिए शत्रुदल में। वहाँ
उस दल के जासूसों ने चट ताड़ कर
पकड़ लिया। ले गये उसे जयसेन के
पास। सुना है, उसके ऊपर हो रहा
अत्याचार अपार; कही तब भी नही
उसने मेरी बात। न वे कहला सके
एक शब्द भी उसके मुँह से अब तलक!

सुमि०—हाय वृद्ध प्रभु-भक्त! सदा जाना जिसे
प्राणों से भी अधिक, उसी के काम मे
अर्पण करके प्राण, धन्य तुम हो गये!

कुमा०—सबसे बढ़कर हितू हमारा है वही
इस जग मे। वह जन्म-सखा मेरा बहन!
आप झेलकर कष्ट, नष्टकर प्राण भी,
हर आफ़त से मुझे बचाना चाहता।
जराजीर्ण जर्जर शरीर उसका, अहो,
सहता होगा कैसे दारुण यन्त्रणा?
मुझको है धिक्कार! छिपा हूँ मैं यहाँ!

सुमि०—मैं जाती हूँ भैया, भिक्षुक-वेष से,
सिहासन के आगे गिरकर भूमि मे,
शङ्कर के प्राणों की भिक्षा, दीन हो,
मागूँगी।

कुमा०— यह करना होना हीन है!

उचित न ऐसा तुम्हें, नाक कट जायगी
पुरखों की! सिर नीचा होगा राज्य का!
खटकेगी यह बात सदा इस जन्मभर
मेरे मन मे, टूटे काँटे की तरह।

(चर का प्रवेश)

चर—गीधकूट कल जला दिया जयसेन ने।
लुटे हुए गृहहीन गाँव के लोग सब
"मंदुर" वन में बसे।

कुमा०— सहा जाता न अब।
हाय, हज़ारों का जीवन यों नष्ट कर
जीवित रहना! यह जीना किस काम का?
जीवन पर हो गई घृणा मुझको बहन!

सुमि०—राजसभा मे आओ हम दोनों चले;
देखूँ मैं किस तरह, कौन छल से, वहाँ
कौन तुम्हारे हाथ लगाता है? चलो!

कुमा०—शङ्कर, बूढा शङ्कर, कहता था यही—
"जान जाय, सो अच्छा, पर तुम क़ैद हो
कभी न जाना; नहीं दिखाना दीनता।"
मेरे पुरखों की गद्दी पर बैठकर
एक विदेशी राजा न्याय-विचार का
ढोंग रचेगा, देगा मुझको दण्ड भी!

क्या यह मुझसे सहा जायगा? और सब
सह सकता हूँ, और सहा है; किन्तु यह
पुरखों का अपमान सहूँगा किस तरह?

सुमि०—मौत भली है इससे तो!

कुमा०— हाँ, तुम यही
कहो बहन—बस यही कहो उत्साह से।
"मौत भली है इससे तो"—प्यारी बहन,
यही तुम्हारे योग्य, यही बस श्रेय है।
मौत भली है इससे तो।—अच्छी तरह
सोचो मन में! जीना है कायरपना!
बोलो, यह क्या सत्य नहीं? चुप क्यों हुई?
ये विषाद से भरे नेत्र क्यों झुक गये?
आँख उठाकर देखो तो मेरी तरफ़।
सोच समझकर स्पष्ट कहो। इस ढङ्ग से
छिपना—निन्दित घृणित कलङ्कित हो चुका
जीवन, क्या इस तरह बचाना—है उचित
मुझको?

सुमि०— भाई—

कुमा०— राजपुत्र हूँ मैं बहन।
स्वर्णभूमि कश्मीर आज उजड़ा हुआ
देख पड़े। सब प्रजा निराश्रय हो गई—
गली-गली फिर रही, वनों मे घूमती।

पुत्र और पति बिना रो रही हैं स्त्रियाँ।
तब भी क्या मैं यों छिपकर जीता रहूँ?
सुमि०—मौत भली है इससे तो।
कुमा०— प्यारी बहन,
यही कहो, तुम यही कहो। जो थे यहाँ
भक्त और अनुरक्त, उन्होंने शक्तिभर
सहकर अत्याचार, प्राण अर्पण किये।
तब भी क्या मैं छिपा रहूँगा? इस तरह
जीना, जीना नहीं! सुमित्रा, क्या कहो?
सुमि०—मौत भली है इससे तो।
कुमा०— बस ठीक है।
बहन, तुम्हारे लिए प्राणरक्षा मुझे
अब तक करनी पड़ी। आज मेरा कहा
करना होगा तुम्हे। प्रतिज्ञा तुम करो
छूकर मेरे पैर। कहूँ जो कुछ, वही,
चाहे कितना कठिन क्यों न हो, तुम करो।
सुमि०—करती हूँ मैं यही प्रतिज्ञा!
कुमा०— तो सुनो?
मैं मरता हूँ। तुम उसके उपरान्त यह
कटा हुआ सिर मेरा, अपने हाथ से,
जालन्धरपति को देना उपहार मे।
कहना, "तुम हो अतिथि राज्य कश्मीर के;

व्याकुल थे तुम जिसको पाने के लिए
वह सिर अपने हाथ काटकर, अर्घ्य सा,
पास तुम्हारे भेज दिया युवराज ने !”
मौन हुईं क्यों बहन ? पैर क्यों काँपते ?
बैठो इस तरुतले ! तुम्हारे हाथ से
हो न सकेगा ? क्या नितान्त दुस्साध्य है ?
किसी तुच्छ उपहार-सदृश यह राज-सिर
भेजूँगा क्या किसी भृत्य के हाथ से ?
तो सारा कश्मीर रोष-धिक्कार से
छिन्न-भिन्न कर डालेगा उसको !

(सुमित्रा का मूर्च्छित होकर गिरना)

छी-छी, यह क्या ! पत्थर उठो उठो रख लो हृदय पर !
विह्वल होना नहीं ! काम है अति कठिन !
सौंप रहा हूँ इसी लिए तो यह तुम्हें !
मेरी प्यारी बहन, बड़े ही हृदय तो
सह सकते हैं महा क्लेश संसार के !
बोलो ; बोलो बहन, कर सकोगी इसे ?

सुमि०—(उठकर) कर सकती हूँ सब कुछ, जो मुझसे कहो ।

कुमा०—हो जाओ बस खड़ी, उठो, साहस करो ।
साधारण स्त्री-सदृश न अपने कष्ट के
बोझों से गिर पड़ो ; सँभलकर हो खड़ी ।

सुमि०—हाय अभागिन इला !

कुमा०— इला को जानता
हूँ मैं अच्छी तरह। न यों अपमान का
जीना मेरा रुचता उसको भी कभी।
वह मेरा ध्रुवतारा है, मुझको वही
महामृत्यु का मार्ग दिखाती है। बहन,
कल पूनो है—कल मिलने की रात है।
जीवन की सब ग्लानि दूर कर, मुक्त हो,
पूर्ण-मिलन का वेष धरूँगा! बस चलो
बहन। दूत के द्वारा पहले भेज दूँ
राजसभा मे समाचार यह—"मैं स्वयं
जाऊँगा कल; मुझे पकड़ ले वे वहाँ।"
बूढा शङ्कर शीघ्र छुटेगा इस तरह।
वह मेरा प्रिय मित्र हितैषी भक्त है!

नवाँ दृश्य

कश्मीर—राजसभा

विक्रमदेव और चन्द्रसेन

विक्र०—आर्य्य किसलिए मौन हो रहे आप हैं?
मैंने तो कर दिया क्षमा युवराज को।
चन्द्र०—तुमने तो कर दिया क्षमा; मुझको अभी

करना है उसका विचार। विद्रोह का
उसको दूँगा दण्ड।

विक्र०— दण्ड वह कौन सा ?

चन्द्र०—उसे करूँगा वञ्चित उसके राज्य से।

विक्र०—यह तो है अत्यन्त असम्भव। मैं उसे
दे जाऊँगा सिंहासन कश्मीर का।

चन्द्र०—गद्दी पर अधिकार तुम्हारा क्या ?

विक्र०— सुनो,
मैंने जीता उसे; मुझे अधिकार है।

चन्द्र०—तुम हो मेरे अतिथि, मित्र के भाव से
टिके हुए इस जगह। लड़ाई कब हुई ?
कब जीता कश्मीर ?

विक्र०— लड़ाई के बिना
आत्म-समर्पण किया मुझे कश्मीर ने।
लड़ना चाहो, लड़ो; लड़ाई के लिए
अब भी हूँ तैयार। राज्य कश्मीर का
मेरा है; मैं जिसको चाहूँ, दूँ उसे।

चन्द्र०—तुम दोगे ? गर्वित कुमार है जन्म से
उसको मैं जानता। न अपने बाप का
सिंहासन, यों दिया हुआ, लेगा कभी।
प्रेम और प्रतिहिंसा लेगा वह, मगर,
भिक्षा दोगे दया दिखाकर तो कभी

लेनेवाला नहीं। घृणा के भाव से
उसको देगा लात मार।

विक्र०— इतना उसे
जो होता अभिमान, न आता तो कभी
आत्मसमर्पण करने को इस ढङ्ग से।

चन्द्र०—महाराज, मैं इसी सोच मे हूँ पड़ा,
यह कुमार का काम मुझे जँचता नहीं।
दर्प-भरा वह युवक सिह के तुल्य है।
आवेगा वह आज यहाँ पर आपही
फँसने को—अपमानित होने को? भला
सोचो तो, क्या इतनी प्यारी जान है?

(पहरेदार का प्रवेश)

पहरे०—आते हैं युवराज महल मे, पालकी
बन्द किये।

विक्र०— क्या कहा? पालकी बन्द है?

चन्द्र०—मुँह कैसे वह यहाँ दिखावेगा भला?
बनकर बन्दी आप, पिता के राज्य में
वह आता है। भीड़ सड़क पर है बड़ी;
होंगी उस पर लगी हज़ारों दृष्टियाँ;
सुकुमारी सुन्दरी स्त्रियाँ कश्मीर की
झुक झुककर झाँकती झरोखों से खड़ी;

उत्सव का यह पूर्णचन्द्र आकाश से
ताक रहा है; चिरपरिचित वे ही सभी
राह-बाट बन-बाग भवन-बाज़ार हैं,
परिचित है प्रत्येक प्रजा का मुख वही,
आँखे वह किस तरह करेगा सामने ?
सुनो निवेदन; बन्द करो तैयारियाँ।
गाने और बजाने को भी तुम अभी
बन्द करो। यह उत्सव उसको इस समय
जान पड़ेगा किया गया उपहास सा।
आज रात को देख दियों की रोशनी
वह जानेगा—अन्धकार में रात्रि के
छिपे न लज्जा, इसी लिए इतना अधिक
यह प्रकाश है! शायद यह अपमान के
दानव का है अट्टहास!

(देवदत्त का प्रवेश)

देव०— जय हो प्रभो!
मैं कुमार का पता लगाने के लिए
विकट वनों में फिरा। मिले तब भी नहीं।
आज सुना, वह आप आ रहे हैं यहाँ।
इससे मैं भी यहाँ चला आया।

विक्र०— सुनो,

सादर राजा की सी कर अभ्यर्थना
लाऊँगा मैं उसे। बिठाऊँगा स्वयं
सिंहासन पर। तुम होना अभिषेक के
समय पुरोहित! आज पूर्णिमा, चाँदनी
रात, आज ही इला और युवराज के
परिणय का पूरा प्रबन्ध मैंने किया।

(नगर के ब्राह्मणों का प्रवेश)

सब—महाराज की जय हो!

1 ब्रा०— लक्ष्मी स्थिर रहे,
राज्य बढ़े, यश बढ़े, और कल्याण हो।
सबको जो आनन्द दिया तुमने, उसे
कह न सके हम—महाराज, कश्मीर का
रोम-रोम तुमको असीसता आज है।

(राजा के सिर पर सब धान्य-दूर्वा से अभिषेक करते हैं)

(ब्राह्मणों का प्रस्थान)

(लकड़ी टेकते हुए कष्ट से शङ्कर का प्रवेश)

शङ्कर—(चन्द्रसेन से)
महाराज, यह समाचार क्या सत्य है?
आते हैं युवराज यहाँ पर आप ही
आत्मसमर्पण करने को? जल्दी कहो,
क्या यह सच है?

चन्द्र०— सच है!

शङ्कर— तो धिक्कार है

लाख झूठ से बढ़कर ऐसे सत्य को!
हा कुमार, मैं वृद्ध भृत्य हूँ आपका।
क्या इसके ही लिए सही थी यन्त्रणा
इतनी मैंने! चूर-चूर सब हड्डियाँ
हुईं, न तब भी पता बताया, चुप रहा!
किन्तु अन्त को तुम बन्दी बनकर स्वयं
सिर को नीचा किये चले आये यहाँ!
देखी यह दुर्दशा सभी कश्मीर ने!
राजसभा है यही पूर्वजों की? जहाँ
पिता-पितामह आदि तुम्हारे बैठकर
पृथ्वी पर सर्वोच्च कहाते थे। उसे
तुमने ऐसे आज मिलाया धूल मे!
इससे तो तुम अगर पड़े रहते कही
जङ्गल मे, तरु तले, कष्ट सहते सदा,
तो अच्छा था! हाय, दिखाया दैव क्या!
पहले ही, हे ईश, मर गया क्यों न मैं?

विक्र०—अच्छाई से तुच्छ बुराई छाँटकर
यह रोना है वृथा!

शङ्कर — सुनो, राजन् सुनो;
रोने आया नहीं तुम्हारे सामने।

यह सिंहासन और सभा जिनकी रही,
आत्माएँ उन स्वर्गवासियों की, यहाँ
लज्जित होकर सिर अपना नीचा किये
खड़ी हुई हैं। बस, वे मेरे कष्ट को
जान सकेंगी।

विक्र०— मुझको भ्रम से शत्रु क्यों
समझ रहे हो? मित्र हुआ मैं आज से।

शङ्कर —जालन्धरपति, बड़ी कृपा की! कर दिया
क्षमा! क्षमा से कहीं भला था दण्ड ही!

विक्र०—ऐसा अनुगत भक्त बन्धु अब तक मुझे
मिला न कोई?

देव० — वाह, मिला कैसे नहीं;
मैं ही हूँ! सब तरह हितैषी आपका!
(बाहर शङ्खध्वनि और कोलाहल होता है)
(दोनों हाथों से शङ्कर मुँह ढक लेता है)

(पहरेदार का प्रवेश)

पहरे०—महाराज, पालकी द्वार पर आ गई।

विक्र०—बाजे हैं सब कहाँ, बजाने को कहो।
मित्र, चलो, सानन्द करें अभ्यर्थना
आगे बढ़कर।

(बाजे बजने का उद्योग

(सभा के भीतर पालकी का प्रवेश)

विक्र०—(आगे बढ़कर) आओ, आओ, मित्रवर,
आओ!

(सोने के थाल मे कटा हुआ सिर लिये सुमित्रा पालकी से बाहर निकलती है। सहसा बाजों का बजना बन्द हो जाता है)

विक्र०— यह क्या! अरे! सुमित्रा!

सुमि०— हाँ, वही!
जिसे ढूँढ़ते फिरते थे तुम रात-दिन
पर्वत पर, वनबीच, छोड़कर राज्य, सुख,
धर्म, स्नेह-सम्बन्ध, राजलक्ष्मी, दया—
अत्याचार अपार हुआ जिसके लिए—
हाय हाय मच गई—मूल्य देकर जिसे
लेने की घोषणा कराई थी—वही,
पृथ्वी पर के उत्तम क्षत्रिय-वंश का
सिर, तुमको उपहार दिया युवराज ने!
इच्छा पूरी हुई तुम्हारी! विश्व मे
शान्ति स्वस्ति हो; विकट नरक की जल रही आग
बुझे; तुम सुखी बनो। (ऊपर देखकर)
मैया, मुझे,
करके मुझ पर दया, गोद में स्थान दो!
(गिरना और मृत्यु)

(दौड़कर इला का प्रवेश)

इला—यह क्या, यह क्या, महाराज! यह क्या हुआ?
जीवनधन मेरा कुमार—

शङ्कर—(आगे बढ़कर) प्रियपुत्र से,
प्रभु, स्वामी, सर्वस्व, सहारा, वृद्ध की
गति, यह अच्छा किया—बहुत अच्छा किया!
गौरव का यह मुकुट पहनकर, बाप के
सिंहासन पर आये राजा की तरह।
तुम्हे मृत्यु ने अमर बनाया। हो गया
मुख उज्ज्वल। बस मुझे जिलाया दैव ने
अब तक, महिमा यही दिखाने के लिए!
तुम तो, प्रभु, चल दिये वृद्ध को छोड़कर
सुरपुर को, पर नहीं, चलूँगा साथ ही
मैं भी। (गिरना और मृत्यु)

चन्द्र०—(सिर से पृथ्वी पर मुकुट फेंककर)
मणिमय मुकुट, तुझे धिक्कार है!
सिंहासन! धिक् तुझे!
(सिंहासन मे लात मारना)

(रेवती का प्रवेश)

चन्द्र०— पिशाची! राक्षसी!
हट आगे से! मुझे न अपना मुँह दिखा!